मोहन : मैं नहीं समझता, अब इस युग में इसमें बुराई क्या है। वर अपनी रुचि की कन्या चाहता ही है, फिर भी ऐसा वर जो···

राजनाथ : जो एम० ए० में पढ़ रहा है। बड़े बाप का बेटा है। जिसका बाप नामी वकील है, जो कभी भी हाईकोर्ट का जज हो सकता है ; जिसकी कोठियाँ हैं, मोटरें हैं, हटो-बचो जिसके यहाँ लगा है, क्यों···?

मोहन : हाँ, तो इसमें झूठ क्या है ? क्या उस परिवार में शीला सुखी न होगी ? कन्या के प्रति आपका जो कर्तव्य है उसे देखिए। लड़कियों का कभी यहाँ स्वयंवर होता था। यह भी इसी देश की मर्यादा है।

राजनाथ : इस देश की क्या मर्यादा है, तुमसे न सीखूँगा। उसे सीखने को किसी विलायती प्रोफेसर के पास भी न जाऊँगा। वह तो जिस तरह मेरे पूर्वजों के रक्त के रूप में मेरे इस शरीर में है, उसी तरह संस्कार के रूप में मेरे मन में है।

मोहन : अच्छी बात। तो फिर आप जानें···

राजनाथ : इस तरह धमका कर नहीं बेटा ! झूठा भय और झूठा इतिहास···इस तुम्हारे नये युग में बस यही दो बातें हैं।

मोहन : क्या कहते हैं ?

राजनाथ : लड़कियों का स्वयंवर यहाँ होता था, पर चुनता कौन था, कन्या या वर ? एक कन्या के लिए सैकड़ों युवक आते थे। रूप, गुण और पौरुष में जो बड़ा होता, उसे कन्या चुनती। जयमाला जिसके गले में पड़ती, वह अपने भाग्य पर फूल उठता। उस युग में कन्या की यह मर्यादा थी, आज क्या है ? स्त्री-जाति जितने नीचे पिछले दस वर्षों में गयी है, उतनी पहले कभी नहीं गयी थी।

मोहन : तो यही झूठा इतिहास है।

राजनाथ : यही, और तुम अब कहते हो— मैं जानूँ और मेरा काम जाने। यह भय तुम दिखाते हो। जैसे मेरी लड़की के भाग्य में कुछ है ही नहीं। तुम उसके लिए भाग्य गढ़कर लाये हो। तुम्हारे साँचे का भाग्य या तो मैं मान लूँ और नहीं तो फिर मेरी लड़की दुख उठायेगी।

मोहन : भाग्य मैं नहीं मानता। परिस्थिति सब कुछ करती है। निरंजन इस भयानक गर्मी में नैनीताल में होता। इस गाँव की धूल में स्टेशन से तीन मील पैदल न चला होता।

राजनाथ : (हँसकर) तुम्हें उसका कृतज्ञ होना चाहिए। वह तुम्हारे लिए तीन मील पैदल आ गया! नैनीताल का निवासी इस ठेठ देहात में! इन्हीं देहातों से वह धन जाता है, जिसे निरंजन का बाप नैनीताल में खर्च करता है। राम, लक्ष्मण और जानकी को कितना पैदल चलना पड़ा था मोहन! नंगे पैर गौतम कहाँ-कहाँ घूम आये थे।

मोहन : आप तो बस वही आदर्श के सपने देखते हैं।

राजनाथ : बिना इन सपनों के मनुष्य दरिद्र हो उठेगा। इन्हीं से हम धनी हैं मोहन! इतिहास पढ़ते हो तुम एम० ए० में और वह निरंजन भी। निकाल दो इतिहास से इन सपनों को, देखो वहाँ फिर क्या बचता है? फिर भी इतिहास का एक ही पाठ है।

मोहन : इस समय प्रसंग क्या है और आप···

राजनाथ : इस समय का प्रसंग भी इतिहास से जुड़ा है···मेरे···मेरे पूर्वजों के···निरंजन और उसके पूर्वजों के इतिहास से यह प्रसंग भी जुड़ा है। जो बहुत बड़े बन जाते हैं, प्रकृति उन्हें टिकने नहीं

देती। मेरी जो दशा आज सात पीढ़ी के बाद है, निरंजन की दूसरी ही पीढ़ी मे होगी। यही इस जगत का चक्र है। ऊपर का बिन्दु नीचे और नीचे का बिन्दु ऊपर। (दोनों हाथों को घुमा कर तर्जनी से परिधि बनाते हैं।)

मोहन : तो इस समय मैं जाऊँ। आपका चित्त···

राजनाथ : ठिकाने नही है! पुत्र कह रहा है, पिता का चित्त ठिकाने नहीं है! तुम्हारे विचार मुझसे नहीं मिलते, इसलिए मैं पागल हूँ। तुम्हारे शब्दों में, तुम्हारे इस युग में, इस देश की नयी पीढ़ी बोल रही है, जिसका विश्वास अब अपनी जड़ों में नहीं है। (उसकी ओर एकटक देखकर) नहीं समझ रहे हो?

मोहन : क्षमा करें, यदि मुझसे—इधर बरसो से आपको चिन्तित और व्यग्र देखता रहा।

राजनाथ : उसके लिए इतना सीधा, इतना सस्ता उपाय खोज लिया। आज के पत्रों, पुस्तकों में ऐसे ओछे काम बहुत मिलते हैं। बाप को पापा और माँ को ममी लिखने वाले तुम्हारे लेखक उत्तेजना और आवेश बहुत दे रहे हैं, बस विवेक की ओर नहीं देखते। नहीं तो फिर नंगे साहित्य का व्यापार वे न चला पायेंगे। वह जो एकाकी-संग्रह तुमने कल यहाँ (मेज़ की ओर संकेत कर) रख दिया था···क्या नाम है उसका?···ऊँह!··· उसमें एक नाटक में साइकिल लेकर पापा आफ़िस चले जाते हैं, दस बजे सबेरे और दो बजे दिन में ममी लंच की चिन्ता में सुनायी पड़ती हैं और फिर सारा दिन और आधी रात तक न कही पापा हैं, न कही ममी हैं उस घर में, बस एक ही व्यापार चल रहा है—कुमारियों और उनके प्रेमियों की प्रेम-लीला। यूरोप और अमेरिका में भी इतना मद नहीं, जिसमें यह देश डूब रहा है।

मोहन : तो आपका कहना है कि मैं निरंजन को यहाँ ले आया, किसी ठोस कार्य के लिए नहीं। यदि यह हो जाय तो इसका सुख आपको न होगा ? शीला रानी बनकर न रहेगी ?

राजनाथ : यही मुझे डर है। रानी बनाने के मोह में कहीं तुम उसे बोर न दो। जहाँ आरम्भ ही अशुद्ध है, वहाँ अन्त क्या शुद्ध होगा ? और इन दो दिनों में निरंजन ने उसे कई बार देखा। तुम्हारे साथ उसने उसे भी भोजन कराया, जलपान कराया। बिना संकोच के जैसे वह तुम्हारे सामने रही है, वैसे उसके सामने भी रही।

मोहन : यही तो नहीं रहा। कल दिन में जब वह सोकर उठा, कई बार वह उसका नाम लेकर बुलाता रहा, एक गिलास पानी के लिए। वह उसके पास नहीं गयी। क्या कहेंगे आप, यह उसका अपमान नहीं हुआ ? वह तो रात ही जाने को तैयार था। मैंने बड़े आग्रह से उसे रोका और कहा कि बच्ची है, जाने दो।

राजनाथ : और अब वह उससे अकेले में बात कर निर्णय करेगा। उसकी परीक्षा लेगा कि वह उसके योग्य है या नहीं और तब उसे स्वीकार कर तुम्हें कृतार्थ करेगा या कह देगा—नहीं जी मुझे पसन्द नहीं। नौकर से पानी न माँगकर उसने तुम्हारी बहन से माँगा !

मोहन : ऐसी इच्छा उसकी स्वाभाविक थी। समय बदल गया। मैंने कहा भी कि उसे किसी लड़कियों के स्कूल ही धरा दें। आप रामायण महाभारत पढ़ाते रहे, उसका परलोक बनाने के लिए। यह लोक बने या न बने। उसके सामने जाने में उसे लाज लगती है···एक गिलास पानी या दो बीड़े पान लेकर। जैसे उसका जन्म इस बीसवीं सदी में नहीं सोलहवीं या पन्द्रहवीं में हुआ हो।

राजनाथ : हूँ, तो इस युग की लड़की में आत्म-सम्मान नहीं है। वह उस पुरुष के चारो ओर भाँवर देती है जो उसे देखकर, बातें कर, बड़ी कृपा से अपनी स्त्री बनाना चाहता है। नीच ! एक शब्द भी मेरी लड़की के विरुद्ध कहा तो जीभ खींच लूँगा। उसके शरीर में मेरा, मेरी उन सात पीढ़ियों का रक्त है, जो सम्मान के लिए मर मिटीं। तुम्हारे ऐसे पुत्र से वह पुत्री भली, जिसने कम-से-कम अपना, अपने माँ-बाप का सम्मान तो रखा। रामायण और महाभारत पढ़कर जो वह असभ्य या अपढ़ है, उसका पता तब चलेगा जब किसी दिन तुमसे वह बातें करेगी। और ठीक है, करेगी वह एकान्त में बातें तुम्हारे इस देवता से— मन और बुद्धि के नहीं, धन के देवता से।

मोहन : नहीं, जाने दीजिए। मैं उसे अभी स्टेशन पहुँचा आता हूँ।

राजनाथ : अभी नहीं। बैठ जाओ वह कुर्सी लेकर, तुमने पत्र में लिखा था, तुम्हारे एक मित्र निरंजन कुमार देहात देखना चाहते हैं। मैंने लिख दिया, लिवा लाओ ! जिस घर के अतिथि किसी समय नवाब आसफुद्दौला रह चुके थे, कुँवरसिंह और अमर सिंह सत्तावन वाले विद्रोह में जहाँ तीन दिन अपने सिपाहियों के साथ पड़े रहे, इस बिगड़े समय में भी तुम्हारे एक मित्र का सम्मान वह कर सकता है। मुझे क्या पता था कि तुम स्वार्थ की इस निचली तह में उतर जाओगे। विवाह के पहले तुम्हारी बहन को कोई उस आँख से देखे और तुम फोड़ न दो।

मोहन : पर उसने किस ऐसी आँख से देखा कि···

राजनाथ : जो काम वह किसी भी नौकर से ले सकता था, वह उसने तुम्हारी बहन से लेना चाहा···केवल इसलिए कि अकेले में वह भर आँख उसे देखे, दो बातें पूछे···इसके बाद वह उससे कहता पैर दबाने के लिए···

[क्रोध से काँपते हैं]

मोहन : राम-राम ! कितना अनर्थ कर रहे हैं आप ? शीला के भाग्य में जो होगा, होगा । अब तो इसी क्षण निरंजन यहाँ से चला जाय ।

राजनाथ : इस घर ने बड़े चढ़ाव-उतार देखे मोहन, पर यह कभी नहीं देखा । यह धरती फट जाती और मैं इसमें समा जाता । यही था तो पहले तुमने मुझसे राय ले ली होती ।

मोहन : मैं जानता था लड़की दिखाने को आप तैयार न होते ।

राजनाथ : इस तरह नहीं । श्री चौधरी से जब और सब बातें तय हो जातीं, मैं उन्हें लड़की दिखा देता, पर निरंजन को कभी नहीं । विवाह के पहले जो लड़का लड़की को स्वयं देखना चाहता है वह असभ्य है, पसन्द करने का अधिकार वह अपना मानता है—कन्या का नहीं । तुम जितना समझते हो मैं उतना जड़ नहीं हूँ । प्रगति रोकने मैं नहीं जाता, बस इतना जान लो प्रगति अन्धों की नहीं, आँख वालों की होती है ।

मोहन : सामन्त विचार-धारा अभी आपकी नहीं छूटी है । हर बात में आप मर्यादा और आदर्श डाल देते हैं, यहाँ तक कि अपनी लड़की का सुख भी आप नहीं देखते ।

राजनाथ : तोते की रट—सुख, सुख, सुख...जैसे तुम्हारे इस काम से उसका सुख तय हो जायगा । उसकी होनी क्या है...भगवान उसे सुख न देना चाहें तो फिर सोने का अम्बार भी धूल हो जायगा । मैं सामन्त विचारधारा में पड़ा हूँ और तुम धन के मोह में, धन के सामने तुम्हारे लिए बहन का मान भी मिट रहा है । पूँजी वाले बनिये से सामन्त कभी बुरा नहीं होता । मर्यादा और आदर्श की बातें चाहे झूठी भी क्यों न हों, व्यक्ति को नीचे नहीं उतरने देतीं । गीध की तरह डैने खोलकर, वह ऊँचे

आकाश में मर जाता है। (काँपकर) कुछ नहीं, तुम यह कहो, तुमने कहा क्या इस निरंजन से? कैसे तुम्हारी बातें यह मान गया? तुमने कहा होगा...अपनी बहन के लिए अपने-आप ही उसे निमन्त्रित किया होगा।

मोहन : जी नहीं...हम दोनों में परस्पर परिचय और स्नेह बढ़ा। होस्टल से अपनी कार पर यह मुझे बराबर अपनी कोठी पर ले जाता था। जहाँ इतनी सरलता होती है, घर-परिवार की बात चलती ही है, उसे यह तो पता हो गया था कि मेरे पूर्वज कुल सौ वर्ष पहले राजा थे। आज हमारे दिन बुरे हैं।

राजनाथ : यह तुमने कहा, जिसने इससे अच्छे दिन कभी देखे नहीं। पर मैं सब देख चुका हूँ, कभी नहीं कहता कि मेरे दिन बुरे हैं। जिस युग की हम उपज थे, जब वह चला गया तो उसकी उपज कब तक टिकती? राज्य मिट जाते हैं। बड़े-से-बड़े वीर और ज्ञानी किसी दिन मरते हैं, पर उनकी लौ जलती रहती है। व्यक्ति और मनुष्यता का मान वह लौ है। तुमने अपने बुरे दिन की बात कही और वह दया से पिघल उठा। जहाँ किसी भी रूप में दया की माँग है, वहाँ व्यक्ति मर जाता है, जीता नहीं। शीला का पता उसे कब चला?

मोहन : उसके घर में उसकी भी बहन है। उसकी आयु भी शीला की है। इसी वर्ष उसने इण्टर किया है। वह बराबर मुझसे खुल-कर बातें करती है। उसकी माँ, चौधरी साहब, उनके व्यवहार में बनावट मुझे कहीं नहीं देख पड़ी।

राजनाथ : इसलिए कि अभी वे बाढ़ पर हैं। अपनी बाढ़ में वे तुम्हें भी बहा रहे हैं। किसी दिन यह बाढ़ निकल जायगी और पीछे छोड़ जायगी कीचड़ और दलदल। जो तुम्हारे घर हुआ, उनके घर भी होगा। इसलिए जिसे देखो, धन से अलग कर देखो।

पद, प्रतिष्ठा और अधिकार से अलग कर देखो। उस मनुष्य को देखो जो तुम्हारे इस युग में जन्म ले रहा है, जो धन और अधिकार से नहीं अपने गुणों से आगे बढ़ेगा। अपने घर की सामन्त भावना के विरोधी निरंजन के धन की चमक में आँखें न मूँद लो। निरंजन अपने दादा का नाम भी नहीं जानता।

मोहन : क्या ?

राजनाथ : चौकने की बात नहीं। अपने पिता को छोड़ कर, अपने कुल की कोई बात वह नहीं जानता। इतिहास की बातें और जो कुछ जानता हो, अपने घर का इतिहास नहीं जानता।

मोहन : कभी अवसर न मिला होगा। कहे भी कौन उससे ? वकील साहब पाँच बजे सबेरे बैठते हैं, दस बजे तक दम नहीं लेते। स्नान और भोजन में बस-बीस मिनट···हाईकोर्ट और लौट कर फिर आधी रात तक। नामी वकील होना भी कम संकट नहीं है।

राजनाथ : अधिकार के लिए तुम्हारे पूर्वज लड़ते-मरते रहे। उन्हें अधिकार और प्रभुता के लिए जीना था। वकीलों, सेठों को धन के लिए जीना है। समाज का निर्माण तब अधिकार पर टिका था, आज धन पर टिका है। वकील साहब भी केवल अपने पिता का नाम जानते होंगे। उस घर का इतिहास जितना जानता हूँ उससे अधिक वे भी नहीं जानते।

मोहन : तो आपका परिचय उनसे है ? आप तो मुस्करा रहे हैं ?

राजनाथ : (हँसकर) हाँ···और अब तुम सुन लो। रात निरंजन से बातें कर मैं यह जान गया कि देवनन्दन चौधरी के शरीर में मेरा नमक है।

मोहन : क्या कह रहे हैं आप यह सब···?

राजनाथ : मुझे याद पड़ रहा है। सात-आठ का रहा हूँगा उस समय। रघुनन्दन चौधरी की छरहरी लम्बी देह, गझिन मूँछ, लम्बे काकुल, सिर पर केसरिया रंग की कत्ती, आँखों में सुरमा और ओंठ पर पान की लाली। अँग्रेज़ कलक्टर दौरे में आया था। दो दिन गढ़ी में रहा, रघुनन्दन उन दिनों बाबूजी के मुन्शी थे। रियासत का बही-खाता, हाकिमों की आवभगत, सब कुछ उनके हाथ में थी। आठ बजे सबेरे बाबूजी के सामने हाथ जोड़कर सिर झुकाते थे और फिर रात को भी आठ ही बजे, दिन भर के काम की बात उन्हे बताकर, गढ़ी मे ही पीछे की ओर अपनी जगह पर चले जाते थे।

मोहन : वकील साहब के कोई सम्बन्धी थे रघुनन्दन चौधरी ?

राजनाथ : उनके बाप थे।···बड़े हँसोड़ और मौके की बात कहने वाले। अंग्रेज़ कलक्टर उनसे इतना प्रसन्न हुआ कि बाबू जी से कह बैठा, वह चौधरी को अपना पेशकार बनायेगा। चौधरी हमें छोड़ना नही चाहते थे। जाने के समय इतना रोये कि बाबूजी ने अपने अँगोछे से उनके आँसू पोंछ कर कहा था—जब चाहना यहाँ आ जाना, यह घर तुम्हारा है। चौधरी चले गये, लेकिन उनकी स्त्री और लड़का, जो मुझसे कुछ छोटा था, गढ़ी में रहे। कितने दिन, ठीक-ठीक नहीं कह सकूँगा। देवनन्दन मेरे साथ खेलते थे। गढ़ी के बाहर जङ्गल में एक दिन हम दोनों दौड़ रहे थे, देवनन्दन मेरे धक्के से गिर पड़े और यहाँ भौह के ऊपर एक अंगुल लम्बी हड्डी धँस गयी। है यहाँ उनके कोई चोट का निशान ?

मोहन : (विस्मय में) जी हाँ, है। मुझे बड़ी ग्लानि हो रही है। कह दीजिए, आपने मुझे क्षमा किया। नहीं तो इस दुख से मैं बीमार पड़ जाऊँगा।

राजनाथ : लड़की की तरह नहीं···लड़के की तरह। तुम लोग थोड़ी आँच भी नहीं सह सकते। किस बात का दुख है तुम्हें ? देवनन्दन चौधरी के अनुकूल इस समय भाग्य है। बड़े पेड़ गिरते हैं, उकठ जाते हैं, उनकी जगह नये बढ़ते हैं। यही क्रम है। तुमने भगवान् के लिए कुछ भी नहीं छोड़ना चाहा, यही भूल हुई।

मोहन : तब क्या हुआ ?

राजनाथ : रघुनन्दन चौधरी ने लड़के और स्त्री को बुला लिया। अपने-आप पेशकार से बढ़कर डिप्टी हुए। लड़का पढ़ता गया और आज नामी वकील है। कल हाईकोर्ट का जज हो जायगा। सब कुछ मिट सकता है, पर संस्कार की जड़ें जल्दी नहीं उखड़तीं, शीला और निरंजन के संस्कार में अन्तर है। निरंजन के धन से वह सुखी हो सकेगी, इसमें मुझे तो सन्देह है। तुम भाई हो, मैं बाप हूँ। उससे इस विषय को कोई बात सीधे पूछो तो नहीं बता सकेगी, फिर भी अभी मैंने जो उसे देखा वह किसी चिन्ता, किसी दुख में थी।

मोहन : इसका कारण मैं हूँ। मैं कल भी उसे दो बात कह गया और आज तो यहाँ तक कहा कि यदि तुम उनसे ढंग से बातें न करोगी तो मैं तुम्हारा मुँह न देखूँगा।

राजनाथ : सगी बहन के साथ तुम चाहे जैसा व्यवहार करो, पर इतना जान लो, उपन्यासों और कहानियों से संसार नहीं चलता। तुमने जो यह जाल बिछाया इसे अब तुम न समेट सकोगे। यह काम अब मुझे करना पड़ेगा। जो मैं नहीं चाहता, वही करना होगा। मेरी बेटी इस घर से दुखी न रहे, यह तो मैं कर सकता हूँ। मेरा विश्वास, मेरा स्नेह उसका बना रहे। पिता के धर्म में मैं खोटा न बनूँ। जाओ, उसे भेज दो। उसे समझा कर, समझूँगा तो फिर निरंजन से भी मैं ही···

मोहन : अभी कुछ नहीं बिगड़ा है बाबू जी···निरंजन चला जाय, मेरी बहन किसी दूसरे घर जायगी, जिसका इतिहास, संस्कार इस घर से मेल खाये ।

राजनाथ : सामन्त भावना में अब तुम आ रहे हो, जो मर गया उसे जिलाने की चेष्टा अब पाप है । कुल और वंश के अभिमान को भूल जाओ और भूल जाओ कि निरंजन के पूर्वज कभी तुम्हारे आश्रित थे । भाग्य कभी तुम्हारे साथ था, आज उनके साथ है । जाओ भेज दो शीला को । उसका संयोग जिसके साथ होगा, लाख चेष्टा पर भी न रुकेगा । मै भाग्यवादी हूँ । इस अवस्था में इतने चढ़ाव-उतार के बाद कोई भीभाग्यवादी हो जाता है ।

(मोहन का प्रस्थान । राजनाथ कुर्सी से उठकर पलंग पर पड़ रहते है और तकिये मे मुँह छिपा देते हैं । शीला का प्रवेश । भारी आँखे, पलके गिरती नही । सुन्दरता के अमृत में विषाद का विष मिल गया है, उसके चलने की आहट नहीं होती । आँचल से आँख पोछती है ।)

शीला : (भरे कंठ से) आ गयी मैं—बाबू जी । आप काँप रहे हैं । मै मर गयी होती, आप रोते तो नही ?

(तकिया हाथ से खींच कर उनकी छाती पर सिर रख कर सिसकने लगती है ।)

राजनाथ : (झटके से उसे सम्हाल कर बैठते हुए) बेटी के लिए बाप कब नहीं रोया ? नहीं, देखो, सुनो भी । जानकी के लिए विदेह जनक रोये थे । में रोया तो कोई बात नहीं । न मानेगी, तुमसे कुछ पूछना है ।

शीला : आप क्या नहीं जानते मेरा ? आप से मेरा कुछ छिपा है ! भैया नहीं जानते, मेरा मुँह नहीं देखेंगे ।

राजनाथ : उसका मुँह मैं नहीं देखता, पिता का प्राण जो इस देह में न होता। फिर भी वह तुम्हें सुखी देखने के लिए···

शीला : सुखी देखने के लिए मुझे इतना बड़ा दुःख आप के जीते जी ? वे अपने घर के बड़े होंगे, इस घर की बड़ी मैं हूँ। आपके पास धन नहीं है, पर क्या भाव भी नहीं है मेरे लिए ? किसी पेड़ के नीचे···झोंपड़ी में मैं सुखी रहूँगी। जानकी के चौदह वर्ष वन में बीत गये। मैं क्या हूँ ? जिसका संग हो उसका विश्वास और आदर मिल जाय, इससे बड़ा धन सोने-चाँदी में लिपटना नहीं है !

राजनाथ : वह युग नहीं अब रहा बेटी ! इस देश में अब जानकी की नहीं···क्या कहूँ ! किसकी बात चलेगी !···होगी वह कोई विदेश की नारी, पुरुष को धक्का देकर बढ़ने वाली। बैंक में उसकी लम्बी रकम होगी।

शीला : उससे उसे पूरा सुख मिलता होगा। सचमुच पति की आँख-में-आँख गड़ा कर वह देखती होगी ?

राजनाथ : इस युग में हम अपना सब कुछ विदेशी आँखों से देख रहे हैं। स्वतन्त्रता का उत्सव हम मना रहे हैं अपने को भूल कर, अपने गुण और अपनी मान्यताओं को भूलकर। आगे चलने में जो पीछे घूमकर देखते नहीं थे, वही अब दूसरों के पीछे सरपट दौड़ रहे हैं। स्वतन्त्र भारत की स्वतन्त्र नारी को अब सब कुछ फाड़ फेंकना है। जानकी उसके लिए बड़ी भोली और धर्म-भीरु है···उनमें बुद्धि की कमी है, साहस की कमी है, व्यक्तित्व की कमी है।

शीला : जो वे भाषण न दे सकीं। (मुस्कराती है) दशरथ को ललकार न सकीं। रामचन्द्र से न कह सकीं कि तुम अपने पिता के धर्म के लिए वन जा रहे हो, मेरे रूप और यौवन की ओर नहीं देखते,

आज की नारी यही कहेगी। पर आप ने मुझे इस युग की चकाचौंध में जाने भी नहीं दिया। मुझे तो जानकी के त्याग में ही उनका सबसे बड़ा अधिकार देख पड़ा है। यह अधिकार अब तक नहीं मिटा, कभी नहीं मिटेगा। अकेली एक जानकी में इस देश की नारी जाति लय हो चुकी है।

राजनाथ : तब तुम निरंजन से बातें कर सकती हो। वह चाहता है कि···

(ऊपर देखने लगते हैं।)

शीला : कोई बात नहीं। जानकी रावण से बातें कर सकी थीं, फिर भी रावण का संयम इन निरंजन में होगा या नहीं? रावण इतना लोलुप नहीं था। वह अशोक वन में जानकी के निकट जब गया, अपने बचाव के लिए अपनी रानी को साथ लेता गया और उन्हें अकेले में बातें करनी हैं!

राजनाथ : देश के सभी पढ़े-लिखे लड़के इस समय निरंजन हैं, उनमें रावण का भी संयम नहीं है।

शीला : तो फिर इनके इस रोग की दवा यहाँ की लड़कियाँ करेंगी। हम सब को सीता बनना पड़ेगा। तो कहाँ उनसे मुझे बातें करनी होंगी?

राजनाथ : लेकिन क्रोध नहीं बेटी! तुम लाल हो गयीं।

शीला : आपके सामने। उनके सामने मैं न लाल हूँगी न पीली। संयम और विचार न छूटेगा मुझसे···!

राजनाथ : सोच लो जो तुम धीर बनी रहो।

शीला : सोच लिया। आपको कोई भी अवसर मेरी चिन्ता, सन्देह का न मिलेगा। अपना सम्मान चाहती हूँ। मैं फिर उनके सम्मान को ठेस न दूँगी।

(मोहन का प्रवेश। उद्विग्न मुद्रा में कभी शीला को और कभी राजनाथ को देखता है।)

राजनाथ : क्या है ? ऐसे घबड़ाये क्यों हो ?

मोहन : जा रहा हूँ···उसे स्टेशन पहुँचा दूँ। मैंने उसे यहाँ बुलाकर उसका अपमान किया। शीला उससे घृणा करती है। क्या-क्या कह रहा है। कहें तो उसके पूर्वजों का इतिहास सुना दूँ।

शीला : घृणा भी एक तरह का सम्बन्ध है। मुझे इन देवता पर दया आ रही है, ये मुझे समझते क्या हैं ? बाबू जी ! यह बेचारा मन और आत्मा का रोगी है। भविष्य के लिये कुछ नहीं छोड़ता। सब कुछ वर्तमान में दबा रहा है ! सौ वर्ष जीने से अच्छा है इसके लिये एक दिन या बस एक क्षण जीना। कुम्भकर्ण छः महीने में एक दिन खाता था और यह जीवन भर के लिये एक ही दिन खा लेना चाहता है।

राजनाथ : (गम्भीर मुद्रा में) हँसी सूझती है तुझे···

शीला : झूठमूट में रो पड़ी। आप भी रोये। मनुष्य को विपत्ति पर ही हँसी आती है और इससे बड़ी विपत्ति और कहाँ हम लोग देखेंगे ?

(हँसने लगती है।)

राजनाथ : हूँ···हूँ···पागल हो रही है। ऐसे ही उससे बातें करेगी ?

मोहन : अब यह उनके सामने क्या जायेगी···

(क्रोध और ग्लानि की मुद्रा)

शीला : तो फिर वे देवता यहाँ से ऐसे ही रोगी चले जायेंगे ? निर्बल चरित्र को हँसी नहीं आती—आपने एक बार कहा था बाबू जी !

राजनाथ : तीस करोड़ के इस देश में आज तीस भी हँसने वाले नहीं हैं। इसका कारण केवल आर्थिक नहीं। नैतिक भी है। आर्थिक होता तो कम-से-कम मिल-मशीन वाले; पूँजी और चोर-बाजार

वाले तो हँसते ? उनकी तिजोरियाँ भरी हैं, पर मन खाली है। चरित्र-बल अब हमारी धरती में नहीं है। जो पीढ़ी आ रही है, उसका नमूना निरंजन है, मोहन है। देखो इन्हें, खड़े-खड़े काँप रहे हैं जैसे अभी गे पड़ेंगे या गिर पड़ेंगे। यह नयी शिक्षा क्या हुई चरित्र की बागडोर छोड़ दी गई। मन के विकार और भावना की आँधी मे सेमर की रुई-सी हमारी यह पीढ़ी उड़ी जा रही है।

मोहन : मैं जल रहा हूँ और आप मुझ पर व्यंग कर रहे हैं ?

राजनाथ : जो जलता है व्यंग उसी पर किया जाता है बेटा ! तुम क्यों जल रहे हो ? जीवन को फूलों की सेज तुमने क्यों मान लिया ? फूल में भी काँटे होते है। विपरीन परिस्थिति में जो न डिगे वही पुरुष है। और तुम जानते हो, सब कुछ अनुकूल ही नहीं होता। निरंजन कभी तुम्हारा आदर्श था और अब तुम्हारी आँखो में वह इतना नीचे है। दोनों ही झूठ हैं। दोनों को मिलाकर बराबर करो तब तुम्हे निरंजन मिलेगा। शीला, बुलाऊँ उसे यहाँ ? उसे आघात तो न पहुँचाओगी ?

शीला : मुझ पर कुछ भी सन्देह हो तो नहीं। मैं उन्हें घृणा नहीं करती। घृणा के लिए कुछ परिचय होना चाहिये। आप जानते हैं, मेरा उनसे कुछ परिचय नहीं है।

राजनाथ : (उठकर) तब मैं उसे बुला लाऊँ। तुम यहाँ न रहना मोहन, जब वह आ जाय।

मोहन : अब इसका फल कुछ नहीं है। यह होना था पहले, अब वह जाने को तैयार है। कपड़े पहन चुका है।

राजनाथ : नदी की बाढ़ उतर जाती है ! मन का वेग न उतरता तब तो मनुष्य अपने ही ताप से जल मरता और फिर तुम्हें वह जान गया। इस घर में मुझे और शीला को भी जान ले, यही ठीक होगा। [प्रस्थान]

मोहन : तुम उससे अकेले में बोल सकोगी ?

शीला : मैं उनसे डरती नहीं। वे बोल सकेंगे ? मुझे सन्देह तो इसी का है। बाप के धन का बल, शिक्षा का बल, चरित्र और व्यक्ति का बल नहीं बनेगा ? देख लेना उन्माद जो उनमें आ गया है, पल भर में उड़ जायेगा। बाबू जी से नहीं कहा, मुझसे तो कहे होते कि तुम्हारे मित्र यहाँ मेरे लिए आये हैं।

मोहन : मैं क्या जानता था कि तुम ऐसी ज़िद्दी हो ?

शीला : इसका उत्तर मैं उन्हें दूँगी। मेरा मुँह अब तो देखोगे।

मोहन : मुझे लजाओ न शीला। तुममें मुझसे बुद्धि अधिक है।

शीला : बुद्धि स्त्री है और बल है पुरुष। बुद्धि और बल के मेल में व्यक्ति बनता है। लुक-छिप कर बुद्धि चलती है, बल को यह कला नहीं आती।

मोहन : क्या ? कैसे देख रही हो ? शीला, तुम्हारी तबीयत ठीक नहीं है। तब वह यहाँ नहीं आयेगा।

शीला : रुको। मुझे उसके लिए तैयार होने दो।

मोहन : किसके लिए ?

शीला : तुम्हारे मित्र से बात करने के लिए। एक-एक साँस का बल मुझे बटोरना होगा। उनके सामने मेरी आँखें नीची न पड़ें, यही चाहते हैं वे। अपना और मेरा अन्तर वे देख लें।

मोहन : तुम्हारे मुँह का रंग हर पल जो बदलता रहा है। तुम मुझसे कुछ छिपा रही हो शीला।

शीला : मन की गति जो हर पल बदल रही है। मन के बीच मुँह पर आते हैं। तुम्हारी बहन की आज परीक्षा है। परीक्षक है एक

पुरुष जो तुम्हारा मित्र बनता है। कैसा मित्र है वह ! क्या स्नेह है उसका तुम्हारे लिए ! जब तुम्हारी बहन के लिए वह इतना निर्दय है !

मोहन : मैं उसे यहाँ नहीं आने दूँगा।

[उठता है।]

शीला : (उसका हाथ पकड़ कर) मैं उसे इस योग्य नहीं छोड़ूँगी कि फिर वह किसी स्त्री के साथ ऐसा व्यवहार करे। तनिक नहीं, तुम न घबड़ाओ ! मुझे स्वीकार कर वह तुम पर कृपा करता है। अब वह तुम्हारी कृपा चाहेगा कि तुम अपनी बहन उसे दो। भैया, तुम उसकी एक बात न सुनना, कह देना तुम अयोग्य हो। चाहिए तो यह था कि लुक-छिप कर मैं उसे देखती (हँसकर) और जब लुक-छिप कर मुझे देखना उसने चाहा तो फिर चाहे उसकी देह सोने के पत्तर में मढ़ी हो, उसके भीतर वह पुरुष कहाँ है, जिसकी ओर मैं···

[नाक और भौंहे टेढ़ी पड़ती हैं।]

मोहन : लुक-छिप कर वह तुम्हे देखना चाहता था। नीच···

शीला : नीच नही निर्बल। जिसको पुरुष-देह में स्त्री का मन है, जो प्रणय की भीख माँगता फिरता है। अपने घर का संकट जान कर···जान कर कि मेरे सुख और सुबिधा के लिए, मुझे रानी बनाने के लिए आप अपने सम्मान का त्याग कर रहे हैं, जिससे बड़ा त्याग पुरुष के लिए कोई दूसरा होता नहीं, यही चाहती थी मैं कि यह संयोग बैठ जाय, वह मुझे खींचना चाहता था अपनी चटक-मटक से, अपने उतावलेपन से, शिक्षा और धन के दम्भ से। किसी-न-किसी बहाने मैं बराबर उसके पास रहूँ, मुझे देखता रहे, मुझसे बातें करता रहे। मेरे भीतर उसके

लिए कुछ छिपा न रहे, कुछ रहस्य न रहे। दो ही दिन में वह सब कुछ जान जाय, उसकी सारी भूख मिट जाय।

मोहन : कुछ न कहो, अब मैं सिर पीट लूँगा!

शीला : इतने सीधे हो भैया तुम। तुम्हारे मित्र के हाथ में लेंसेट बराबर रहता है। वे सब कहीं बहुत गहरे चीरकर देखते हैं वहाँ क्या है? और तुम उनको उपर की चमक-दमक में यह नहीं देख सके कि भीतर कितना विष है उनके। सिर पीटने से नहीं बनेगा। हँस सको तो उनकी मूर्खता पर हँसो। पुरुष का गुण न धन है, न रूप, न विद्या, कहाँ तक वह अपने को रोक पाता है, कितना संयम उसमें है?

मोहन : ऐं, कैसी आहट है। आ रहे हैं तब वह···शीला, उसका अपमान न करना। तुम्हारे घर आया है, कम-से-कम इतना···

शीला : आधी बात कहते हो। कहो, फिर मैं कहूँगी? अपमान वह स्वयं अपना करते हैं। मैं उनका अपमान क्या करूँगी। पुरुष जब स्त्री का शिकार करता है, सम्मानित नहीं रह जाता। फिर भी विश्वास कर, मैं अपने पर अंकुश रखूँगी।

मोहन : और वह जो कुछ पूछे उसका निडर उत्तर दोगी?

शीला : (हँसकर) तुम्हारे मित्र मुझसे लड़ेंगे नहीं। डरने की बात क्या है! रावण की लंका में जानकी उससे नहीं डरी और अब मैं अपने घर में उनसे डरूँगी?

मोहन : तुम जानकी नहीं हो। यह युग अब जानकी का नहीं है।

शीला : जानकी का युग इस देश से कभी नहीं मिटेगा। मैं जानकी हूँ। इस देश की कोई भी स्त्री जानकी है। जब तक हमारे भीतर जानकी का त्याग है, जानकी की क्षमा है, तब तक हम वही हैं। तुम्हारे लिए जानकी पौराणिक है, इसलिए असत्य है।

मेरे लिए वह भावगम्य हैं। उनके भीतर मेरी सारी समस्याएँ, सारे समाधान हैं। राम मे तुम अविश्वास कर सकते हो, जानकी मे अविश्वास का अधिकार तुम्हे नही है।

[निरजन का प्रवेश। अवस्था प्रायः तेईस वर्ष। लम्बा-छरहरा गोरा शरीर। नुकीली नाक, आँखों पर चश्मा। इस नये युग की वेश-भूषा, प्रभाव की मुद्रा।]

निरंजन : गाड़ी का समय जा रहा है मोहन!

शीला : इस समय आप नही जायेंगे। आइए, बैठिए।

निरंजन : जी आपके बाबू जी भी यही कह रहे हैं, लेकिन अब चला ही जाना ठीक है।

शीला : बैठिए भी, चले जाने वाले को कब किसने रोका है?

निरंजन : आप भी बैठें। (मेज़ के पास कुर्सी पर बैठता है। मोहन निकल जाता है) कहाँ जा रहे हो?

मोहन : (नेपथ्य मे) तुम्हारा सामान ठीक कर दूँ।

शीला : आप मुझसे अकेले मे बातें करना चाहते थे। यह अवसर ठीक है।

निरंजन : इसलिए कि आप मेरी छाया से भागती रही हैं। बोलिए···!

शीला : बाप के घर मे···मायके में कोई भी लड़की आप जैसों से भागेगी। ऐसा न होना संकट की सूचना है, इतना भी नहीं जानते आप?

निरंजन : उँह···आपके विचार बड़े पुराने हैं, नया भारत अब आप लोगों से कुछ और चाहेगा।

शीला : भारत वही पुराना है। आप उसे नया बना कर उसकी प्रतिष्ठा बिगाड़ रहे हैं। वह क्या चाहता है, उसको देखिये, उसको

समझिये। जो आप चाहते हैं, उसका आरोप इस पुराने भारत पर न कीजिए।

निरंजन : इस युग का···इस बीसवीं सदी का स्वतन्त्र भारत पुराना है? पुराने विचारों में, पुरानी रूढ़ियों में जकड़े रहने का समय अब लद गया। आप देहात में हैं। शहर में रहतीं, वहाँ की लड़कियों को देखतीं, सिनेमा और स्त्रियों के समाज में जातीं···

शीला : कहीं भी रहती···कहीं भी जाती फिर भी मेरी आँखों में भारत नया नहीं लगता। इसकी चाल कभी रुकी नहीं, न यह कभी मरा न मिटा। एक साँस भी इसकी कब बन्द हुई, बतायेंगे? इतने कितने देशों को जन्म लेते और मरते अपनी आँखों देखा है। इसकी आयु की, इसकी संजीवनी शक्ति की प्रतिष्ठा कीजिए।

निरंजन : अरे···आप बड़ी भावुक हैं। मैं तो गनगना उठा।

शीला : इसकी पताका जब प्रशान्त से लेकर भूमध्य सागर तक उड़ी थी उस समय अपनी कन्याओं से जो इसने न चाहा, अब न चाहेगा।

निरंजन : यह कविता की भाषा मैं नहीं समझ रहा हूँ।

शीला : आप जिस साँचे में ढल चुके हैं, उसमें इस पुराने देश को न ढालिये। इसका अपना साँचा है, बने तो अभी भी समय है, उसमें फिर से अपने को ढालिए। जिस देश की रूढ़ियाँ मिट जाती हैं, वह देश भी मिट जाता है।

निरंजन : आप तर्क करना जानती हैं। मैं तो समझा था कि···

शीला : आप समझे थे, मैं गूँगी हूँ। आपके सामने मैं बोल न पाऊँगी।

निरंजन : जो कहें आप···फिर भी जिसके साथ जीवन भर रहना हो उसे ठीक से जान लेना···मैं ही नहीं, कोई भी शिक्षित व्यक्ति चाहेगा।

शीला : जो आप-सा सजग रहेगा। थोड़ी देर किसी लड़की से बातें कर उसके भीतर का सब कुछ खोलकर देख लेना। इस काम में वह बराबर ठगा जाता है फिर भी उसे चेत नहीं होता?

निरंजन : भावी पत्नी को ठीक से देख लेना, समझ लेना, ठगा जाना है। कैसी बेढंगी बात आप कह रही हैं?

शीला : आप की अवस्था का पुरुष जब मेरी आयु की लड़की के पास जाता है, अन्धा हो जाता है। और कहीं संयोग से लड़की सुन्दरी हुई तो वह उन्मत्त हो उठता है। अन्धा क्या देखेगा? उन्मत्त क्या समझेगा? इसलिए अपने-आप न देखकर किसी दूसरे से दिखा लेना आप ऐसों के हित की बात है। आप को साहस कैसे हुआ कि यहाँ तक चले आये मुझे देखने के लिए?

निरंजन : आप के भाई ने मुझसे प्रार्थना की···

शीला : उनकी प्रार्थना पर आप कुएँ में कूदेंगे? साँप उठा कर गले में लपेट लेंगे। भावी पत्नी? पत्नी कब और कहाँ भावी हुआ करती है? जब तक वह आपको हो न जाय, आप उसके न हो जायँ···

[हँसती है।]

निरंजन : तो इसीलिए आप बुलाने पर भी मेरे पास नहीं आयीं। मुझसे भागती फिरीं। मैं समझता था देहात की लड़की होने से आप लजा रही हैं। आप पर्दे में रहा चाहेंगी।

शीला : जी···अकेले एक पुरुष में जिस स्त्री का प्राण समा जाता है, वह किसी-न-किसी प्रकार के पर्दे में रहना ही चाहती है। लुक-छिप कर आप मुझे देखने की चेष्टा करते रहे। बार-बार नाम लेकर आपने बुलाया···दो बार मैं गयी भी, फिर भी आप

का सन्तोष इतने से नहीं हुआ। मैंने देखा, आप संयम छोड़ रहे हैं, आपका स्वभाव बिगड़ रहा है।

निरंजन : मेरे स्वभाव की आलोचना करने का अधिकार आपको नहीं है। मैं यहाँ बुलाने पर आया था, आप जानती हैं। इस भभकती लू, धधकते आकाश में, मैं नैनीताल होता।

शीला : मेरे लिए आपको कष्ट हुआ, इसकी मैं कृतज्ञ हूँ। आप के स्वभाव की आलोचना मैं न करूँ, आप का मन करेगा, समाज की मान्यताएँ करेंगी, फिर अब मुझे भी क्यों नहीं है यह अधिकार महोदय ? जितना कोई विवाह के बाद अपनी पत्नी से पाता होगा, उतना आप मुझसे पहले ही ले लेना चाहते थे। सब कुछ मैं आप को अभी दे देती तो फिर बाद के लिए क्या रखती ? और न सही, मानसिक लगाव तो आप पैदा कर चुके हैं। अब आप जब किसी दूसरी लड़की को देखने जायेंगे, आप के मन में मैं झूल उठूँगी। आँखों में लहरा जाऊँगी। मुझे पार कर आप की आँखें उस बेचारी को देख न पावेंगी। पहले और भी कोई लड़की देख चुके हैं आप ?

निरंजन : इससे आपका मतलब क्या है ? देखा या न देखा हो ? मैंने कष्ट दिया आप को, क्षमा करें, मैं अब चलूँ।

[कुर्सी से खड़ा होता है। शीला बढ़कर उसका हाथ पकड़ लेती है।]

शीला : अभी आप नहीं जायेंगे। अभी आप ने ठीक से न मुझे देखा, न समझा। और फिर रूठकर आप चले जायँ। इस देश की सबसे बड़ी, पत्नी की कामना में आप यहाँ आये थे और लेकर जायेंगे क्या ?

निरंजन : आप तो मुझे चक्कर में डाल रही हैं! आप को समझना बड़ा कठिन काम है। कहिए, फिर न जाऊँ तो क्या करूँ ?

शीला : पुरुष की समझ में स्त्री कभी नहीं आती। मुझे आप जितना ही अधिक समझना चाहेंगे, मैं आप से उतनी ही दूर होती जाऊँगी। सन्देह का भार पुरुष ढोता है, स्त्री विश्वास चाहती है।

निरंजन : तब ?···

शीला : यह अवसर न दीजिए कि स्त्री की जीभ चले, वह तर्क करे, प्रगल्भा और वाचाल बने। पुरुष समुद्र की थाह लगा लेगा। स्त्री में वह बराबर डूबता आया है।

निरंजन : मनुष्य की सीधी बोली में कहिए। संकेत की यह भाषा मैं नहीं जानता।

शीला : तब आपने इतना सचेत, इतना सजग, क्यों रहना चाहा ? कुमारी के सपने न तो पुरुष के धन के, न विद्या के, न रूप के होते हैं। वहाँ कुछ दूसरा ही रहता है।

निरंजन : (विस्मय में) तो फिर कह दें, मैं भी जान लूँ।

शीला : कह दूँ ? आपको विश्वास न होगा।

निरंजन : कहे भी ? विश्वास न करना मेरा अभाग्य होगा।

शीला : सच कहते हैं ? अपने मन को टटोल लीजिए। सन्देह की छाया भी वहाँ न हो।

निरंजन : मुझे अधिक लज्जित न करें।

शीला : स्त्री पुरुष की असावधानी को, उसके अल्हड़पन को प्रेम करती है, जिसमें वह अपने प्राण से भी सजग नहीं रहता, संकट से जूझता चलता है। जिसमें वह ऐसी गहरी नींद सोता है कि स्त्री को अवसर मिले कि वह उसे प्राण में उठा ले, आँखों में बन्द कर ले। कल रात भर आप जागते रहे। अभी यह दशा है तो आगे क्या होगा ?

निरंजन : (विस्मय में) ऐ···कैसे जानती हैं आप कि मैं रात भर जागता रहा ?

शीला : हम कैसे जानती हैं ? इस चिन्ता में न पड़ें। आकाश के तारे कहते हैं हमसे, पेड़ की पत्तियाँ कहती हैं, हमारे कान अधिक सुनते हैं। हमारी आँखें अधिक देखती हैं। आप ही कहें, रात भर आप जगे रहे या नहीं? आप जो कहेंगे, मैं वही मान लूँगी।

निरंजन : ठीक कह रही हैं···रात मुझे नींद नहीं आयी।

शीला : लेकिन क्यो ? क्या इस आयु में आपको कंकड़ पर नींद न आ जानी चाहिए ? क्या यह आपके मन का रोग नहीं है ? यह देश नया नही पुराना, बहुत पुराना, वृद्ध हो चुका है। यह चाहता है कि इसमें जो पैदा हों, इसी की तरह लम्बी आयु के हों। उनके बाल पक कर हिमालय की आभा पैदा करें। आपके नींद न आने का अर्थ है कि आप इस देश के प्रति ईमानदार नहीं हैं। नये के फेर में न पड़कर पुराने को समझें; आपके लिए, आपके समाज के लिए इसी में कल्याण है।

निरंजन : तो आपके कहने का मतलब है कि मुझे आपको देखने या बातें करने का···

शीला : जी···आज मैं आपके सामने हूँ···आप मुझे इस रूप में देख रहे हैं···कहीं मैं बीमार पड़ जाऊँ···कोई अंग सूना पड़ जाय··· एक आँख फूट जाय तब तो आप मुझे छोड़ देंगे ?

निरंजन : मैं इतना नीच हूँ ! क्या कह रही हैं आप यह ? मेरे भीतर भी हृदय है, उसमें प्रेम और कर्तव्य दोनो हैं।

शीला : फिर देखने या बातें करने में क्या धरा है ? सन्देह से जहाँ आरम्भ है, वहाँ अन्त भी सन्देह है। किसका साहस होगा कि अन्धी या लँगड़ी कन्या का प्रस्ताव भी आपसे करेगा ? अपने

मित्र का विश्वास आप न कर सके, किसी दूसरे को भेज देते और मुझे देखते तब जब वह आपका अधिकार होता ।

निरंजन : (मुस्कराकर) विवाह के बाद···

शीला : तब क्या, और तब मैं आपके चारों ओर ऐसे भाँवर देती जैसे यह पृथ्वी सूर्य की भाँवरी देती है । उसके लिए आप को प्रयत्न न करना पड़ता । आपके आकर्षण में बँधकर मैं ऐसी विवश रहती जैसी यह पृथ्वी सूर्य के आकर्षण में विवश है ।

निरंजन : शीला···इधर देखो···

शीला : अभी नहीं, पहले वह आकर्षण······और तब इसके लिए मैं विवश रहूँगी ।

निरंजन : तब मैं कहूँ, तुम्हारे बाबूजी से ।

शीला : कह दो···लेकिन इस नये युग का नया पुरुष यह सब कहने-कहाने में रूढ़िवादी बनेगा ।

निरंजन : तो तुम अभी आघात करती चलोगी ?

शीला : जब तक हम दोनों दो व्यक्ति हैं ।

निरंजन : दो व्यक्ति तो हम बराबर रहेंगे ।

शीला : यह नया मत है । पुराने में दो व्यक्तियों के भेद और साहस का मिट जाना ही प्रणय है । यहाँ न रुचि-भेद है, न बुद्धि भेद । शंकर का आधा शरीर इसीलिए पार्वती का है ।

निरंजन : यह सब तुम कहाँ जान गयीं ?

शीला : अपने संस्कार से । सब कुछ पढ़ा ही नहीं जाता, कुछ अनुभव भी किया जाता है ।

निरंजन . कैसे कहूँगा, मुझे तो लाज आ रही है । कल तक यह जितना सरल था अब नहीं है । मैं यहाँ अपने मित्र का उपकार करने आया था और अब मेरे साथ उपकार हो रहा है ।

शीला : बस, वही पुरानी बात। कन्या के प्रार्थी यहाँ बराबर पुरुष होते रहे हैं। तुम्हें भी वही करना पड़ा। इस नये युग, इस नयी सभ्यता में भी। तुम्हें भी दान लेना पड़ेगा किसी भी कन्या का।

निरंजन : और वही दान मेरा सबसे बड़ा धन होगा। शीला! मैं भूला था। अब मुझे नींद आयेगी, ऐसी गहरी कि तुम···

शीला : गला क्यों भर आया? इतने अधीर अभी···

निरंजन : सम्भवतः हम लोगों का पूर्व जन्म का संयोग था···

शीला : निश्चित! जीवन भर का सुख और शन्तोष इसी विश्वास पर टिकता है।

निरंजन : (उसकी उँगलियाँ पकड़कर) इस एक दिन में मेरा सारा जीवन समा गया, इसके पहले जो कुछ था और बाद का जो कुछ होगा।

शीला : सब इसी एक दिन में मिल जायगा, क्यों?

निरंजन : इसी एक दिन में···

[दोनों एक-दूसरे की ओर देखते हैं।]

[पर्दा गिरता है।]

जगदीशचन्द्र माथुर | रीढ़ की हड्डी

पात्र

उमा	लड़की
रामस्वरूप	लड़की का पिता
प्रेमा	लड़की की माँ
शंकर	लड़का
गोपाल प्रसाद	लड़के का बाप
रतन	नौकर

[मामूली तरह से सजा हुआ एक कमरा। अन्दर के दरवाजे से आते हुए जिन महाशय की पीठ नज़र आ रही है, वे अधेड़ उम्र के मालूम होते हैं, एक तख़्त को पकड़े हुए पीछे की ओर चलते-चलते कमरे में आते हैं। तख़्त का दूसरा सिरा उनके नौकर ने पकड़ रखा है ।]

बाबू : अबे, धीरे-धीरे चल।···अब तख़्त को उधर मोड़ दे···उधर··· बस, बस।

नौकर : बिछा दूँ साहब ?

बाबू : (ज़रा तेज़ आवाज़ मे) और क्या करेगा ? परमात्मा के यहाँ अक्ल बँट रही थी तो तू देर से पहुँचा था क्या ?···बिछा दूँ साब !···और यह पसीना किसलिये बहाया है ?

नौकर : (तख़्त बिछाता है) ही-ही-ही !

बाबू : हँसता क्यों है ?···अबे, हमने भी जवानी मे कसरते की हैं ! कलसों से नहाता था लोटों की तरह। यह तख़्त क्या चीज़ है ?···उसे सीधा कर···यों···हाँ बस ।···और सुन, बहू जी से दरी माँग ला, इसके ऊपर बिछाने के लिये। चद्दर भी, कल जो धोबी के यहाँ से आयी है, वही।

[नौकर जाता है। बाबू साहब इस बीच में मेज़पोश ठीक करते हैं। एक झाड़न से गुलदस्ते को साफ करते हैं।

कुर्सियों पर भी दो-चार हाथ लगाते हैं। सहसा घर की मालकिन प्रेमा आती हैं। गंदुमी रंग, छोटा क़द। चेहरे और आवाज़ से ज़ाहिर होता है किसी काम में बहुत व्यस्त हैं। उनके पीछे पीछे भीगी बिल्ली की तरह नौकर आ रहा है—खाली हाथ। बाबू साहब—श्री रामस्वरूप—दोनों को तरफ देखने लगते हैं···]

प्रेमा : मैं कहती हूँ तुम्हें इस वक्त धोती की क्या जरूरत पड़ गई! एक तो वैसे ही जल्दी-जल्दी में···

रामस्वरूप : धोती!

प्रेमा : हाँ, अभी तो बदल कर आये हो और फिर न जाने किसलिए···

राम० : लेकिन तुमसे धोती माँगी किसने?

प्रेमा : यही तो कह रहा था रतन!

राम० : क्यों बे रतन, तेरे कानों में डाट लगी है क्या? मैंने कहा था—धोबी के यहाँ से जो चद्दर आयी है, उसे माँग ला···अब तेरे लिए दूसरा दिमाग कहाँ से लाऊँ उल्लू कहीं का।

प्रेमा : अच्छा जा पूजा वाली कोठरी में लकड़ी के बक्स के ऊपर धुले हुए कपड़े रक्खे हैं न! उन्हीं में से एक चद्दर उठा ला।

रतन : और दरी?

प्रेमा : दरी यहीं तो रक्खी है, कोने में। वह पड़ी तो है।

राम० : (दरी उठाते हुए) और बीवी जी के कमरे में से हारमोनियम उठा ला, और सितार भी।···जल्दी जा।

(रतन जाता है। पति-पत्नी तख़्त पर दरी बिछाते हैं।)

प्रेमा : लेकिन वह तुम्हारी लाड़ली बेटी तो मुँह फुलाये पड़ी है।

रामo : मुह फुलाये ! ··और तुम उसकी माँ किस मर्ज़ की दवा हो ? जैसे-तैसे करके तो वे लोग पकड़ मे आये हैं। अब तुम्हारी बेवकूफ़ी से सारी मेहनत बेकार जाय तो मुझे दोष मत देना।

प्रेमा : तो मैं ही क्या करूँ ? सारे जतन करके तो हार गयी। तुम्हीं ने उसे पढा-लिखाकर इतना सिर चढ़ा रक्खा है। मेरी समझ में तो ये पढ़ाई-लिखाई के जंजाल आते नही। अपना ज़माना अच्छा था।'आ ई' पढ़ ली, गिनती सीख ली और बहुत हुआ तो 'स्त्री-सुबोधनी' पढ़ ली। सच पूछो तो स्त्री-सुबोधनी में ऐसी-ऐसी बातें लिखी हैं—ऐसी बातें कि क्या तुम्हारी बी० ए०, एम० ए० की पढ़ाई होगी। और आजकल के तो लच्छन ही अनोखे हैं···

रामo : ग्रामोफोन बाजा होता है न ?

प्रेमा : क्यो ?

रामo : दो तरह का होता है। एक तो आदमी का बनाया हुआ। उसे एक बार चला कर जब चाहे तब रोक लो। और दूसरा परमात्मा का बनाया हुआ। रिकार्ड एक बार चढ़ा तो रुकने का नाम नहीं।

प्रेमा : हटो भी। तुम्हे ठठोली ही सूझती रहती है। यह तो होता नहीं कि उस अपनी उमा को राह पर लाते, अब देर ही कितनी रही है। उन लोगों के आने में।

रामo : तो हुआ क्या ?

प्रेमा : तुम्हीं ने तो कहा था कि ज़रा ठीक-ठाक करके नीचे लाना। आजकल तो लड़की कितनी ही सुन्दर हो, बिना टीमटाम के भला कौन पूछता है ? इसी मारे मैने तो पौडर-वौडर उसके सामने रक्खा था। पर उसे तो इन चीज़ों से न जाने किस जनम

की नफ़रत है। मेरा कहना कि आँचल में मुँह लपेट कर लेट गयी। भई, मैं बाज़ आयी तुम्हारी इस लड़की से।

राम० : न जाने कैसा इसका दिमाग़ है। वरना आजकल की लड़कियों के सहारे तो पौडर का कारबार चलता है।

प्रेमा : अरे मैंने तो पहले ही कहा था। इंट्रेंस ही पास करा देते— लड़की अपने हाथ रहती और इतनी परेशानी न उठानी पड़ती! पर तुम तो···

राम० : (बात काटकर) चुप, चुप।···(दरवाज़े में झाँकते हुए) तुम्हें कतई अपनी ज़बान पर क़ाबू नहीं है। कल ही यह बता दिया था कि उन लोगों के सामने ज़िक्र और ढंग से होगा। मगर तुम तो अभी से सब-कुछ उगले देती हो। उनके आने तक तो न जाने क्या हाल करोगी।

प्रेमा : अच्छा बाबा, मैं न बोलूँगी। जैसी मर्जी हो, करना। बस मुझे तो मेरा काम बता दो।

राम० : तो उमा को जैसे हो तैयार कर लो। न सही पौडर, वैसे कौन बुरी है। पान लेकर भेज देना उसे। और, नाश्ता तो तैयार है न? (रतन का आना) आ गया रतन?···इधर ला, इधर। बाजा नीचे रख दे। चद्दर खोल। पकड़ा तो ज़रा उधर से।

(चद्दर बिछाते हैं।)

प्रेमा : नाश्ता तो तैयार है। मिठाई तो वे लोग ज़्यादा खायेंगे नहीं। कुछ नमकीन चीज़े बना दी हैं फल रक्खे हैं ही। चाय तैयार है और टोस्ट भी। मगर हाँ, मक्खन? मक्खन तो आया ही नहीं।

राम० : क्या कहा? मक्खन नहीं आया? तुम्हें भी किस वक्त याद आयी है। जानती हो कि मक्खन वाले की दूकान दूर है, पर

तुम्हें तो ठीक वक्त पर कोई बात सूझती ही नहीं। अब बताओ, रतन मक्खन लाये कि यहाँ का काम करे। दफ़्तर के चपरासी से कहा था आने के लिए सो नखरों के मारे···

प्रेमा : यहाँ का काम कौन ज़्यादा है? कमरा तो सब ठीक-ठाक है ही। बाजा-सितार आ ही गया। नाश्ता यहाँ बराबर वाले कमरे में ट्रे में रक्खा हुआ है, सो तुम्हें पकड़ा दूँगी। एकाध चीज़ खुद ले आना। इतनी देर में रतन मक्खन ले ही आयेगा।··· दो आदमी ही तो हैं?

राम० : हाँ, एक तो बाबू गोपाल प्रसाद और दूसरा खुद लड़का है। देखो, उमा से कह देना कि ज़रा क़रीने से आये। ये लोग ज़रा ऐसे ही हैं। गुस्सा तो मुझे बहुत आता है इनके दक़ियानूसी ख़यालों पर। खुद पढ़े-लिखे हैं, वकील हैं, सभा-सोसाइटियों में जाते हैं, मगर लड़की चाहते हैं ऐसी कि ज्यादा पढ़ी-लिखी न हो।

प्रेमा : और लड़का?

राम० : बताया तो था तुम्हें। बाप सेर है तो लड़का सवा सेर। बी० एस-सी० के बाद लखनऊ में ही तो पढ़ता है, मेडिकल कॉलेज में। कहता है कि शादी का सवाल दूसरा है, तालीम का दूसरा। क्या करूँ, मज़बूरी है। मतलब अपना है, वरना इन लड़कों और इनके बापों को ऐसी कोरी-कोरी सुनाता कि ये भी····

रतन : (जो अब तक दरवाज़े के पास चुपचाप खड़ा हुआ था, जल्दी-जल्दी) बाबू जी, बाबू जी।

राम० : क्या है?

रतन : कोई आते हैं।

राम० : (दरवाज़े से बाहर झाँककर जल्दी मुँह अन्दर करते हुए) अरे, ए प्रेमा, वे आ भी गये। (नौकर पर नज़र पड़ते ही) अरे तू यहीं खड़ा है, बेवक़ूफ़। गया नहीं मक्खन लाने ?""सब चौपट कर दिया।···अबे उधर से नहीं, अन्दर के दरवाजे से जा (नौकर अन्दर जाता है)···और तुम जल्दी करो प्रेमा। उमा को समझा देना थोड़ा-सा गा देगी।

[प्रेमा जल्दी से अन्दर की तरफ़ जाती है। उसकी धोती ज़मीन पर रक्खे हुए बाजे से अटक जाती है।]

प्रेमा : उँह। यह बाजा वह नीचे ही रख गया है, कमबख़्त।

राम० : तुम जाओ, मैं रखे देता हूँ।···जल्दी।

[प्रेमा जाती है, बाबू रामस्वरूप बाजा उठाकर रखते हैं। किवाड़ों पर दस्तक।]

राम० : हँ-हँ-हँ। आइये, आइये।···हँ-हँ-हँ।

[बाबू गोपाल प्रसाद और उनके लड़के शङ्कर का आना। आँखों से लोक-चतुराई टपकती है। आवाज़ से मालूम होता है कि काफी अनुभवी और फितरती महाशय हैं। उनका लड़का कुछ ख़ीस निपोरनेवाले नौजवानों में से है। आवाज़ पतली है और खिसियाहट-भरी। झुकी कमर इनकी ख़ासियत है।]

राम० : (अपने दोनों हाथ मलते हुए) हँ-हँ, इधर तशरीफ़ लाइये इधर···।

[बाबू गोपाल प्रसाद बैठते हैं, मगर बेंत गिर पड़ता है।]

राम० : यह बेंत !···लाइये मुझे दीजिये। (कोने में रख देते हैं, सब बैठते हैं) हँ-हँ···मकान ढूँढ़ने में कुछ तकलीफ तो नहीं हुई ?

गोपाल० : (खखार कर) नहीं। ताँगेवाला जानता था···और फिर हमें तो यहाँ आना ही था। रास्ता मिलता कैसे नहीं ?

रामο : हँ हँ-हँ। यह तो आपकी बड़ी मेहरबानी है। मैंने आपको तकलीफ़ तो दी···

गोपाल : अरे नहीं साहब ! जैसा मेरा काम वैसा आपका काम। आख़िर लड़के की शादी तो करनी ही है। बल्कि यों कहिए कि मैंने आपके लिए ख़ासी परेशानी कर दी।

रामο : हँ-हँ-हँ ? यह लीजिए, आप तो मुझे काँटों में घसीटने लगे। हम तो आपके—हँ-हँ—सेवक ही हैं—हँ-हँ ! (थोड़ी देर बाद लड़के की ओर मुख़ातिब होकर) और कहिए, शंकर बाबू, कितने दिनों की छुट्टियाँ हैं ?

शंकर : जी, कॉलिज की तो छुट्टियाँ नहीं हैं। 'वीक एण्ड' में चला आया था।

रामο : तो आपके कोर्स ख़त्म होने में तो अब साल भर रहा होगा।

शंकर : जी, यही कोई साल दो साल।

रामο : साल दो साल ?

शंकर : हँ-हँ-हँ !···जी, एकाध साल का 'मार्जिन' रखता हूँ···

गोपाल : बात यह है साहब कि यह शंकर एक साल बीमार हो गया था। क्या बतायें, इन लोगों को इसी उम्र में सारी बीमारियाँ सताती हैं। एक हमारा ज़माना था कि स्कूल से आकर दर्जनों कचौड़ियाँ उड़ा जाते थे, मगर फिर जो खाना खाने बैठते तो वैसी-की-वैसी ही भूख !

रामο : कचौड़ियाँ भी तो उस ज़माने में पैसे की दो आती थीं।

गोपाल : जनाब, यह हाल था कि चार पैसे में ढेर-सी मलाई आती थी। और अकेले दो आने की हज़म करने की ताक़त थी, अकेले ! और अब तो बहुतेरे खेल वगैरह भी होते हैं स्कूल में ! तब न कोई वौलीबॉल जानता था, न टेनिस, न बैडमिण्टन। बस

कभी हॉकी या कभी क्रिकेट कुछ लोग खेला करते थे। मगर मजाल कि कोई कह जाय कि यह लड़का कमज़ोर है।

[शंकर और रामस्वरूप खीसें निपोरते हैं।]

राम० : जीहाँ, जी हाँ ! उस ज़माने की बात ही दूसरी थी, हँ-हँ !

गोपाल : (जोशीली आवाज़ में) और पढ़ाई का यह हाल था कि एक बार कुर्सी पर बैठे कि बारह घन्टे की 'सिटिंग' हो गयी, बारह घन्टे ! जनाब मैं सच कहता हूँ कि उस ज़माने का मैट्रिक भी वह अंग्रेजी लिखता था फ़र्राटे की कि आजकल के एम० ए० भी मुकाबिला नहीं कर सकते।

राम० : जी हाँ, जी हाँ ! यह तो है ही।

गोपाल : माफ़ कीजिएगा बाबू रामस्वरूप, उस ज़माने की जब याद आती है, अपने को ज़ब्त करना मुश्किल हो जाता है !

राम० : हँ-हँ-हँ।···जी हाँ वह तो रंगीन ज़माना था, रंगीन ज़माना ! हँ-हँ-हँ !

[शंकर भी हीं-हीं करता है।]

गोपाल : (एक साथ अपनी आवाज़ और तरीका बदलते हुए) अच्छा, तो साहब, फिर 'बिजनेस' की बात-चीत हो जाय।

राम० : (चौंककर) बिज़नेस ?—बिजि···(समझ कर) ओह···अच्छा, अच्छा। लेकिन ज़रा नाश्ता तो कर लीजिए।

[उठते हैं।]

गोपाल : यह सब आप क्या तक़ल्लुफ़ करते हैं !

राम० : हँ-हँ-हँ ! तक़ल्लुफ़ किस बात का। हँ-हँ ! यह तो मेरी बड़ी तक़दीर है कि आप मेरे यहाँ तशरीफ़ लाये। वरना मैं किस क़ाबिल हूँ। हँ-हँ !···माफ़ कीजिएगा ज़रा। अभी हाज़िर हुआ।

[अन्दर जाते हैं।]

गोपाल : (थोड़ी देर बाद दबी आवाज़ में) आदमी तो भला है। मकान-वकान से हैसियत भी बुरी नहीं मालूम होती। पता चले, लड़की कैसी है।

शंकर : जी···

(कुछ खखारकर इधर-उधर देखता है।)

गोपाल : क्यों, क्या हुआ ?

शंकर : कुछ नहीं।

गोपाल : झुककर क्यों बैठते हो ? ब्याह तय करने आये हो, कमर सीधी करके बैठो। तुम्हारे दोस्त ठीक कहते हैं कि शंकर की 'बैकबोन'···

[इतने में बाबू रामस्वरूप आते हैं, हाथ में चाय की ट्रे लिये हुए। मेज़ पर रख देते हैं।]

गोपाल : आख़िर आप माने नहीं !

राम० : (चाय प्याले में डालते हुए) हॅ-हॅ-हॅं ! आपको विलायती चाय पसन्द है या हिन्दुस्तानी ?

गोपाल : नहीं, नहीं, साहब, मुझे आधा दूध और आधी चाय दीजिए। और ज़रा चीनी ज़्यादा डालिएगा। मुझे तो भई यह नया फैशन पसन्द नहीं। एक तो वैसे ही चाय में पानी काफ़ी होता है, और फिर चीनी भी नाम के लिए डाली जाय तो जायका क्या रहेगा ?

राम० : हँ-हँ, कहते तो आप सही हैं।

[प्याला पकड़ाते हैं।]

शंकर : (खखारकर) सुना है, सरकार अब ज़्यादा चीनी लेने वालों पर 'टैक्स' लगायेगी।

गोपाल : (चाय पीते हुए) हूँ। सरकार जो चाहे सो कर ले, पर अगर आमदनी करनी है तो सरकार को बस एक ही टैक्स लगाना चाहिए।

राम० : (शंकर को प्याला पकड़ाते हुए) वह क्या ?

गोपाल : खूबसूरती पर टैक्स ! (रामस्वरूप और शंकर हँस पड़ते हैं) मज़ाक नहीं साहब, यह ऐसा टैक्स है जनाब कि देने वाले चूँ भी न करेंगे। बस शर्त यह है कि हर एक औरत पर यह छोड़ दिया जाय कि वह अपनी खूबसूरती के 'स्टैण्डर्ड' के माफ़िक अपने ऊपर टैक्स तय कर ले। फिर देखिए सरकार की कैसी आमदनी बढ़ती है।

राम० : (ज़ोर से हँसते हुए) वाह-वाह ! खूब सोचा आपने ! वाक़ई आजकल यह खूबसूरती का सवाल भी बेढब हो गया है। हम लोगों के ज़माने में तो यह कभी उतना भी न था। (तश्तरी गोपाल प्रसाद की तरफ़ बढ़ाते हैं) लीजिए।

गोपाल : (समोसा उठाते हुए) कभी नहीं साहब, कभी नहीं।

राम० : (शंकर की तरफ़ मुखातिब होकर) आपका क्या ख़याल है शंकर बाबू ?

शंकर : किस मामले में ?

राम० : यही कि शादी तय करने में खूबसूरती का हिस्सा कितना होना चाहिए।

गोपाल : (बीच में ही) यह बात दूसरी है बाबू रामस्वरूप, मैंने आप से पहले भी कहा था, लड़की का खूबसूरत होना निहायत ज़रूरी है—कैसे भी हो, चाहे पाउडर वग़ैरह लगाये, चाहे वैसे ही। बात यह है कि हम-आप मान भी जायँ मगर घर की औरतें तो राज़ी नहीं होतीं। आपकी लड़की तो ठीक है ?

राम० : जी हाँ, वह तो अभी आप देख लीजिएगा।

गोपाल : देखना क्या। जब आपसे इतनी बातचीत हो चुकी है, तब तो यह रस्म ही समझिए।

राम० : हँ-हँ, यह तो आपका मेरे ऊपर भारी अहसान है। हँ-हँ!

गोपाल : और ज़ायचा (जन्मपत्र) तो मिल ही गया होगा।

राम० : जी ज़ायचे का मिलना क्या मुश्किल बात है। ठाकुर जी के चरणों में रख दिया। बस, खुद-बखुद मिला हुआ समझिए।

गोपाल : यह ठीक कहा आपने, बिल्कुल ठीक (थोड़ी देर रुककर) लेकिन हाँ, यह जो मेरे कानों में भनक पड़ी है, यह तो ग़लत है न?

राम० : (चौंककर) क्या?

गोपाल : यही पढ़ाई-लिखाई के बारे में!···जी हाँ, साफ़ बात है साहब, हमें ज्यादा पढ़ी-लिखी लड़की नहीं चाहिए। मेम साहब तो रखनी नहीं, कौन भुगतेगा उनके नखरों को। बस हद-से-हद मैट्रिक पास होनी चाहिए···क्यों शंकर?

शंकर : जी हाँ, कोई नौकरी तो करानी नहीं।

राम० : नौकरी का तो कोई सवाल ही नहीं उठता।

गोपाल : और क्या साहब! देखिए कुछ लोग मुझसे कहते हैं कि जब आपने अपने लड़कों को बी० ए०, एम० ए० तक पढ़ाया है, तब उनकी बहुएँ भी ग्रेजुएट लीजिए। भला पूछिए इन अक्ल के ठेकेदारों से कि क्या लड़कों की पढ़ाई और लड़कियों की पढ़ाई एक बात है! अरे मर्दों का काम तो है ही पढ़ना और क़ाबिल होना। अगर औरतें भी वही करने लगीं, अंग्रेज़ी अख़बार पढ़ने लगीं और 'पालिटिक्स' वगैरह पर बहस करने लगीं तब तो हो चुकी गृहस्थी। जनाब, मोर के पंख होते हैं, मोरनी के नहीं, शेर के बाल होते हैं, शेरनी के नहीं।

रामः : जी हाँ, और मर्द के दाढ़ी होती है, औरत के नहीं। हँ··· हँ···हँ···!

(शंकर भी हँसता है, मगर गोपाल प्रसाद गम्भीर हो जाते हैं।)

गोपाल : हाँ, हाँ। वह भी सही है। कहने का मतलब यह है कि कुछ बातें दुनिया में ऐसी हैं जो सिर्फ मर्दों के लिए हैं और ऊँची तालीम भी ऐसी ही चीज़ों में से एक है।

रामः : (शंकर से) चाय और लीजिए।

शंकर : धन्यवाद। पी चुका।

रामः : (गोपाल प्रसाद से) आप?

गोपाल : बस साहब, अब तो ख़त्म ही कीजिए।

रामः : आपने तो कुछ खाया ही नहीं। चाय के साथ 'टोस्ट' नहीं थे। क्या बतायें, वह मक्खन···

गोपाल : नाश्ता ही तो करना था साहब, कोई पेट तो भरना था नहीं। और फिर टोस्ट-वोस्ट मैं खाता भी नहीं।

रामः : हँ-हँ। (मेज़ को एक तरफ़ सरका देते हैं। फिर अन्दर के दरवाज़े की तरफ़ मुँह कर ज़रा ज़ोर से) अरे, ज़रा पान भिजवा देना···! कहिए सिगरेट मँगवाऊँ?

गोपाल : जी नहीं।

[पान की तश्तरी हाथों में लिये उमा आती है। सादगी के कपड़े। गर्दन झुकी हुई। बाबू गोपाल प्रसाद आँखें गड़ाकर और शंकर आँखें छिपाकर उसे ताक रहे हैं।

रामः : हाँ···हाँ!···यही, हँ···हँ, आपकी लड़की है। लाओ बेटी पान मुझे दो।

[उमा पान की तश्तरी अपने पिता को देती है। उस समय उसका चेहरा ऊपर को उठ जाता है और नाक पर रखा

हुआ सोने की रिम वाला चश्मा दीखता है। बाप-बेटे चौंक उठते हैं।]

गोपाल प्रसाद और शंकर } —(एक साथ) चश्मा !

रामः : (ज़रा सकपकाकर) जी, वह तो···वह···पिछले महीने में इसकी आँखें दुखनी आ गयी थीं, सो कुछ दिनों के लिए चश्मा लगाना पड़ रहा है।

गोपाल : पढ़ाई-वढ़ाई की वजह से तो नहीं है कुछ ?

राम० : नहीं साहब, वह तो मैंने अर्ज़ किया न।

गोपाल : हूँ। (सन्तुष्ट होकर कुछ कोमल स्वर में) बैठो बेटी।

राम० : वहाँ बैठ जाओ उमा, उस तख्त पर, अपने बाजे-वाजे के पास।

(उमा बैठती है।)

गोपाल : चाल में तो कुछ खराबी है नहीं। चेहरे पर भी छवि है।··· हाँ, कुछ गाना-बजाना सीखा है ?

राम० : जी हाँ, सितार भी और बाजा भी। सुनाओ तो उमा एकाध गीत सितार के साथ।

[उमा सितार उठाती है। थोड़ी देर बाद मीरा का मशहूर गीत 'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई' गाना शुरू कर देती है। स्वर से ज़ाहिर है कि गाने का अच्छा ज्ञान है। उसके स्वर में तल्लीनता आ जाती है, यहाँ तक कि उसका मस्तक उठ जाता है। उसकी आँखें शंकर की झेंपती-सी आँखों से मिल जाती हैं और वह गाते-गाते एक साथ रुक जाती है।]

राम० : क्यों, क्या हुआ ? गाने को पूरा करो उमा।

गोपाल : नहीं, नहीं, साहब; काफ़ी है! लड़की आपकी अच्छा गाती है। (उमा सितार रख कर अंदर जाने को उठती है।)

गोपाल : अभी ठहरो, बेटी।

राम० : थोड़ा और बैठी रहो, उमा !

(उमा बैठती है।)

गोपाल : (उमा से) तो तुमने पेंटिंग-वेंटिंग भी···

उमा० : (चुप)

राम० : हाँ, वह तो मैं आपको बताना भूल ही गया। यह जो तसवीर टँगी हुई है, कुत्ते वाली, इसी ने खींची है। और वह उस दीवार पर भी।

गोपाल : हूँ ! यह तो बहुत अच्छा है। और सिलाई वगैरह ?

राम० : सिलाई तो सारे घर की इसी के ज़िम्मे रहती है, यहाँ तक कि मेरी कमीजें भी। हँ···हँ···हँ।

गोपाल : ठीक।···लेकिन, हाँ बेटी, तुमने कुछ इनाम-विनाम भी जीते हैं ?

(उमा चुप है। रामस्वरूप इशारे के लिये खाँसते हैं। लेकिन उमा चुप है उसी तरह गर्दन झुकाये। गोपाल प्रसाद अधीर हो उठते हैं और रामस्वरूप सकपकाते हैं।)

राम० : जवाब दो, उमा। (गोपाल से) हँ-हँ, ज़रा शरमाती है, इनाम तो इसने···

गोपाल : (ज़रा रूखी आवाज़ में) ज़रा इसे भी तो मुँह खोलना चाहिए।

राम० : उमा, देखो, आप क्या कह रहे हैं। जवाब दो न।

उमा० : (हल्की लेकिन मजबूत आवाज़ में) क्या जवाब दूँ बाबू जी ! जब कुर्सी-मेज़ बिकती है तब दूकानदार कुर्सी-मेज़ से कुछ नहीं पूछता, सिर्फ खरीदार को दिखला देता है। पसन्द आ गयी तो अच्छा है, वरना···

राम० : (चौंककर खड़े हो जाते हैं) उमा, उमा !

उमा० : अब मुझे कह लेने दीजिये बाबू जी।...ये जो महाशय मेरे खरीदार बनकर आये हैं, इनसे ज़रा पूछिए कि क्या लड़कियों के दिल नहीं होता ? क्या उनके चोट नहीं लगती ! क्या वे बेबस भेड़-बकरियाँ हैं, जिन्हें कसाई अच्छी तरह देख-भालकर खरीदते हैं ?

गोपाल : (ताव में आकर) बाबू रामस्वरूप, आपने मेरी इज़्ज़त उतारने के लिए मुझे यहाँ बुलाया था ?

उमा० : (तेज़ आवाज़ में) जी हाँ, और हमारी बेइज़्ज़ती नहीं होती जो आप इतनी देर से नाप-तोल कर रहे हैं ? और ज़रा अपने इन साहबजादे से पूछिए कि अभी पिछली फरवरी में ये लड़कियों के होस्टल के इर्द-गिर्द क्यों घूम रहे थे, और वहाँ से कैसे भगाये गए थे !

शंकर : बाबू जी, चलिये।

गोपाल : लड़कियों के होस्टल में ?...क्या तुम कॉलेज में पढ़ी हो ?

[रामस्वरूप चुप]

उमा : जी हाँ, मैं कालेज में पढ़ी हूँ। मैंने बी० ए० पास किया है ! कोई पाप नहीं किया, कोई चोरी नहीं की, और न आपके पुत्र की तरह ताक-झाँककर कायरता दिखाई है ! मुझे अपनी इज्जत, अपने मान का ख़याल तो है। लेकिन इनसे पूछिए कि ये किस तरह नौकरानी के पैरों पड़कर अपना मुँह छिपाकर भाग गये थे।

राम० : उमा, उमा !

गोपाल : (खड़े होकर गुस्से में) बस हो चुका। बाबू रामस्वरूप, आपने मेरे साथ दगा किया। आपकी लड़की बी० ए० पास है और

आपने मुझसे कहा था कि सिर्फ़ मैट्रिक तक पढ़ी है। लाइए मेरी छड़ी कहाँ है। मैं चलता हूँ। (छड़ी ढूँढ़कर उठाते हैं) बी० ए० पास ? उफ्फोह ! गज़ब हो जाता ! झूठ का भी कुछ ठिकाना है ! आओ बेटे चलो···

[दरवाजे की ओर बढ़ते हैं।]

उमा : जी हाँ, जाइए, ज़रूर चले जाइए ! लेकिन घर जाकर ज़रा यह पता लगाइएगा कि आपके लाड़ले बेटे के रीढ़ की हड्डी भी है या नहीं—यानी बैकबोन, बैकबोन···

[बाबू गोपाल प्रसाद के चेहरे पर बेबसी का गुस्सा है और उनके लड़के के रुलासापन। दोनों बाहर चले जाते हैं ! बाबू रामस्वरूप कुर्सी पर धम से बैठ जाते हैं। उमा सहमा चुप हो जाती है। लेकिन उसकी हँसी सिसकियों में तबदील हो जाती है ! प्रेमा का घबराहट की हालत में आना।]

प्रेमा : उमा, उमा···रो रही है ?

(यह सुनकर रामस्वरूप खड़े होते हैं। रतन आता है।)

रतन : बाबू जी, मक्खन।

(सब रतन की तरफ़ देखते हैं और पर्दा गिरता है)

विष्णु प्रभाकर | सीमा रेखा

पात्र

शरत	अन्नपूर्णा
सविता	लक्ष्मी
विजय	सुभाष
तारा	उमा

पुलिसजन आदि

[दूसरे भाई, उपमन्त्री शरतचन्द्र का ड्राइंग-रूम आयु ५२ वर्ष। आधुनिक, पर सादगी की छाप। दीवार पर गाँधी जी का तैल-चित्र है। दो-चार चित्र तिपाइयों पर भी हैं। पुस्तकें काफी हैं। बीचोंबीच एक सोफा सेट है। उत्तर की ओर सामने दो द्वार हैं जो बाहर बरामदे में खुलते हैं। उसके पार सड़क है। पूर्व और पश्चिम के द्वार घर के अन्दर जाते हैं। सोफे व मेज़ों के आसपास कुर्सियाँ हैं। पर्दा उठने पर मंच खाली है। दो क्षण बाद शरतचन्द्र तेज़ी से आते हैं। बेहद परेशान हैं। कई क्षण बेचैनी से घूमते हैं फिर टेलीफोन उठा लेते हैं। नम्बर मिलाते हैं।

शरत : हलो, मैं शरत बोल रहा हूँ। विजय का कुछ पता लगा··· क्या ? क्या अभी तक नहीं लौटे। झगड़ा बढ़ गया है। क्या ? गोली···गोली चलानी पड़ी। भीड़ बैंक के पास बेकाबू हो गयी थी। बैंक को लूटा ? नहीं···कहीं और लूटमार हुई ? नहीं···कोई घायल ? अभी कुछ पता नहीं। ओह, देखो अभी पता करके बताओ। विजय आये तो मुझे टेलीफोन करने को कहो···तुरन्त···समझे···मैं घर पर ही हूँ।

[दूसरा नम्बर मिलाना चाहते हैं कि उनको पत्नी अन्नपूर्णा घबरायी हुई बाहर से आती है।]

अन्नपूर्णा : आपने कुछ सुना ?

शरत : हाँ, सुना है गोली चल गयी !

अन्नपूर्णा : अपने राज में भी गोली चलती है ?

शरत : अपना राज समझता कौन है ? जब तक अपना राज नहीं समझेंगे तब तक गोली चलेगी ही। लेकिन खैर, तुम कहाँ गयी थीं ?

अन्नपूर्णा : जीजी के पास। रास्ते में सुना रामगंज में गोली चल गयी। बाज़ार बन्द हो रहे हैं। भय छाया हुआ है। लोग सरकार को गालियाँ दे रहे हैं।

शरत : (चोंगा रख कर आगे आ जाते हैं।) सरकार को गाली ही दी जाती है गोली चली तो गाली देते हैं। बैंक लुट जाता तब भी गाली ही देते।

अन्नपूर्णा : (एकदम) बैंक ! कौन-सा बैंक लुट रहा था ? बैंक से तो कुछ झगड़ा नहीं था। कल आपके पीछे कुछ विद्यार्थी बस वालों से झगड़ पड़े थे और आप जानते हैं कि विद्यार्थी···

शरत : (एकदम) कि विद्यार्थी कानून की चिन्ता नहीं करते। बच्चे हैं, अल्हड़ हैं (तेज़ होकर) यह भी कोई बात है ? लोग पागल हो जाते हैं। कानून अपने हाथ में ले लेते हैं। गोली चली है तो ज़रूर कोई कारण रहा होगा। कुछ लोगों ने बैंक पर धावा बोला होगा। पुलिस पर पत्थर फेंके होंगे।

[सविता का प्रवेश—चौथे भाई, जन-नेता सुभाषचन्द्र की पत्नी, आयु पैंतीस वर्ष।]

सविता : फेंके होंगे तो इसका यह अर्थ नहीं कि पत्थर के जवाब में गोली चला दी जाय। गोली उन्हें आत्मरक्षा के लिए नहीं दी जाती, जनता की रक्षा के लिए दी जाती है।

अन्नपूर्णा : सविता तुम कहाँ से आ रही हो ?

(लक्ष्मीचन्द का प्रवेश—व्यापारी, सबसे बड़े भाई, आयु ५६ वर्ष)

शरत : तुम क्या कह रही हो?

सविता : ठीक कह रही हूं···

लक्ष्मी : तुम बिलकुल गलत कह रही हो। पुलिस गोली न चलाती तो बैंक लुट जाता, बाज़ार लुट जाता, चारों ओर लूट-मार मच जाती। शासन की जड़ें हिल जातीं।

सविता : शासन की जड़ें हिलतीं या न हिलतीं दादाजी, पर आपकी जड़ें जरूर हिल जातीं। आपका व्यापार ठप हो जाता। आपका नुकसान होता···

लक्ष्मी : हाँ मेरा नुकसान होता। मैं सरकार की प्रजा हूँ। प्रजा की रक्षा करना सरकार का फर्ज़ है···।

सविता : यानी सरकार की पुलिस आपकी रक्षा करने के लिए है।

लक्ष्मी : हाँ मेरी रक्षा करने के लिए है।

सविता : केवल आपकी···?

अन्नपूर्णा : न, न, सविता! इनका मतलब केवल अपने से नहीं है। भीड़ इनका ही नुकसान करके न रह जाती। वह सारे शहर को बरबाद कर देती।

सविता : भीड़ में इतनी शक्ति है, जीजी?

शरत : भीड़ में कितनी शक्ति है, सवाल यह नहीं है।

सविता : तो क्या है?

शरत : सवाल यह है कि क्या भीड़ को कानून अपने हाथ में लेने का अधिकार है? मैं समझता हूँ उसे यह अधिकार नहीं है!

सविता : और यदि वह लेती है तो···

शरत : तो वह विद्रोह क्यों किया गया है यह देखना क्या सरकार का कर्तव्य नहीं है।

[टेलीफ़ोन की घन्टी बजती है। शरत एकदम चोंगा उठाते हैं। सब उनके पास आते हैं।]

शरत : हलो…हां मैं ही हूँ…क्या स्थिति अभी काबू में नहीं है। लूट-मार तो नहीं हुई न ? अच्छा…घायल कितने हुए…पाँच वहीं मर गये। बीस घायल अस्पताल में हैं…मैं अभी आता हूँ। अभी…

[टेलीफ़ोन का चोंगा रख कर तेज़ी से जाने को मुड़ते हैं।]

अन्नपूर्णा : (एकदम) नहीं, नहीं आप ऐसे नहीं जा सकते।

लक्ष्मी : हाँ, पहले फ़ोन करके पुलिस बुला लो।

सविता : पुलिस क्या करेगी ? चलिए मैं चलती हूँ।

शरत : आप चिन्ता न करें। पुलिस की गाड़ी बाहर खड़ी है।

सविता : (व्यंग्य से) ज़रूर होगी। जनता के नेता अब पुलिस की गाड़ी में ही जा सकते हैं। (आवेग में) जिन्होंने जनता का नेतृत्व किया ! जनता के आगे होकर गोलियाँ खायीं, जो एक दिन जनता की आँखों के तारे थे, वे ही आज पुलिस के पहरे में जनता से मिलने जाते हैं।

[शरत तिलमिला कर कुछ कहना चाहते हैं कि तभी तीसरे भाई विजय, पुलिस कप्तान, आयु ४८ वर्ष, पूरी वर्दी में प्रवेश करते हैं।]

लक्ष्मी : (एकदम) विजय !

सविता : कप्तान साहब आप यहाँ ?

अन्नपूर्णा : विजय, अब क्या हाल है ?

शरत : विजय, तुमने यह क्या कर डाला ? तुमनेगोली क्यों चलायी ? तुम्हें सोचना चाहिए था कि···

लक्ष्मी : विजय ने जो कुछ किया सोच समझकर किया है और ठीक किया है।

अन्नपूर्णा : हाँ, बिना सोचे-समझे कोई काम कैसे किया जा सकता है। सोचा तो होगा ही पर···

शरत : नहीं, नहीं, यह बहुत बुरा हुआ। जानते नहीं अब जनता का राज है और जनता के राज में, जनतन्त्र में, जनता की प्रतिष्ठा होती है।

विजय : लेकिन गुण्डों की नहीं !

सविता : वे गुण्डे हैं ?

लक्ष्मी : हाँ वे गुण्डे हैं। दंगा करने वाले गुण्डे होते हैं, शोहदे होते हैं !

शरत : नहीं भइया, वे सब गुण्डे नहीं होते। हाँ, गुण्डों के बहकावे में ज़रूर आ जाते हैं।

सविता : यह भी खूब रही। जनता कुछ गुण्डों के बहकावे में आ जाय और आप लोगों की, जो कल तक उनके सब-कुछ थे, कोई बात न सुने !

शरत : (तिलमिलाकर) सविता···सविता···

सविता : सुनिये भाई साहब ! बात यह है कि आप अपना सन्तुलन खो बैठे हैं ! आप निरंकुश होते जा रहे हैं। आप अपने को केवल शासक मानने लगे हैं। आप भूल गये हैं कि जन-राज में शासक कोई नहीं होता, सब सेवक होते हैं।

विजय : (थका सा) सेवक होते हैं तो क्या सेवक मर जाने के लिये हैं ?

सविता : हाँ मर जाने के लिए ही हैं। कोई मरकर देखे तो···

लक्ष्मी : सविता, बहू ! तुम बहुत आगे बढ़ रही हो। स्वतन्त्रता का युग है तो इसका यह मतलब नहीं कि बड़े-छोटे का विचार न किया जाय।

अन्नपूर्णा : हाँ, सविता ! तुम्हें इतना तेज़ नहीं होना चाहिये।

सविता : मैं क्षमा चाहती हूँ। आप सब मुझसे बड़े हैं। आपका अपमान मैं कभी नहीं कर सकती, ऐसा सोच भी नहीं सकती। पर इस नाते-रिश्ते से ऊपर भी तो हम कुछ हैं। हम स्वतन्त्र भारत की प्रजा हैं, हम एक स्वतन्त्र देश के नागरिक हैं। हम इन्सान हैं !

विजय : इन्सान हैं तो सभी हैं। स्वतन्त्र देश के नागरिक हैं तो सभी हैं, कानून सब पर लागू होता है।

लक्ष्मी : बेशक सब पर लागू होता है। सब समान हैं।

सविता : बेशक सब समान हैं दादी जी, पर जिन पर व्यवस्था और न्याय की जिम्मेदारी है उनका दायित्व अधिक है।

शरत : ज़रूर है, इसीलिये मुझे जाना है ! लेकिन जाने से पहले मैं जानना चाहूँगा विजय, कि आख़िर बात कैसे बढ़ गयी ?

विजय : मैं तो वहाँ था नहीं। कल के झगड़े के बारे में आप जानते ही हैं। आज फिर विद्यार्थियों ने प्रदर्शन किये। डिपो पर हमला किया ! वहाँ से वे बैंक के पास आये···

शरत : क्या उन्होंने बैंक पर हमला किया ?

विजय : कर सकते थे। शायद वे यही चाहते थे।

शरत : कौन ? विद्यार्थी···

विजय : यह तो नहीं कह सकता। भीड़ में केवल विद्यार्थी ही नहीं थे। शरारती लोग ऐसे अवसरों की ताक में रहते हैं। पुलिस ने भीड़ को रोका तो उन्होंने पत्थर फेंके ··

अन्नपूर्णा : पुलिस पर पत्थर फेंके ?

लक्ष्मी : तब तो ज़रूर उनका इरादा बैंक लूटने का था।

शरत : क्या पुलिस वालों को चोटें आयीं ?

विजय : जी हाँ, दस-बारह सिपाही घायल हो गये। एक इन्सपेक्टर का सिर फूट गया।

सविता : बस !

लक्ष्मी : तुम चाहती थी कि वे सब मर जाते !

[चौथे भाई सुभाषचन्द्र का प्रवेश—जन-नेता, आयु ४४ वर्ष]

सुभाष : हाँ ये सब मर जाते तो ठीक होता।

शरत : सुभाष !

अन्नपूर्णा : सुभाष यह तुम क्या कह रहे हो ?

लक्ष्मी : तुम तो कम्युनिस्ट हो गये हो और अपनी बहू को भी तुमने ऐसा ही बना दिया है)

[बाहर शोर उठता है !]

सुभाष : दादी जी ! मैं न कभी कम्यूनिस्ट था, न हूँ, और न कभी बनूँगा पर मैं स्वतन्त्र भारत में गोली चलाना जुर्म मानता हूँ।

लक्ष्मी : चाहे जनता कुछ भी करे ! उसे सब अधिकार है ?

सुभाष : बेशक हैं। उसी ने इन लोगों के (शरत की ओर इशारा करता है।) हाथ में शासन की बागडोर सौंपी है।

शरत : किस लिए सौंपी है ? रक्षा के लिए या बरबादी के लिए ?

[बाहर शोर तेज़ होता है। सविता चौंकती हैं। धीरे से बोलती है और बाहर जाती है। शेष लोग तेज़-तेज़ बोलते रहते हैं।]

सविता : (अलग से) यह शोर कैसा है। देखूँ तो···

[खिसक जाती है।]

सुभाष : (शरत की बात का उत्तर देते हुए) रक्षा के लिए!

शरत : लेकिन जब जनता स्वयं नाश करने पर तुल जाय तो क्या हमें उसे ऐसा करने देना चाहिए?

सुभाष : नहीं!

विजय : (एकदम) यही तो हमने किया है।

लक्ष्मी : और ठीक किया है।

शरत : और ऐसा करने का उन्हें अधिकार है। वे हैं ही इसलिए। तुम भी इसे मानते हो तो फिर कहना क्या चाहते हो?

सुभाष : यही कि हमें राज्य की रक्षा करते-करते प्राण देने चाहिए, प्राण लेने नहीं चाहिए। हमें देने का अधिकार है लेने का नहीं!

शरत : सुभाष! यह कोरा आदर्शवाद है।

सुभाष : कर्तव्य का पालन करते हुए मरना यदि आदर्शवाद है तो मैं कहूँगा कि विश्व के प्रत्येक नागरिक को ऐसा ही आदर्शवादी होना चाहिए।

शरत : सुभाष, तुम केवल बोलना जानते हो।

सुभाष : आप से ही सीखा है, भाई साहब!

विजय : लेकिन ज़िम्मेदारी सम्हालना नहीं सीखा।

सुभाष : वह भी सीखा है। मैं जनता से प्रतिज्ञा करके आया हूँ कि आज शाम तक गोली चलाने वाले कप्तान पुलिस को मोअत्तिल कराके छोड़ूँगा।

अन्नपूर्णा : क्या—क्या तुमने!

लक्ष्मी : अपने ही घर में तुम अपनों के दुश्मन बन कर आये हो।

सुभाष : अपना पराया मैं कुछ नहीं जानता। मैं जनता का प्रतिनिधि हूँ। मैं माननीय उप-मंत्री श्री शरतचन्द्र को बताने आया हूँ कि उनके एक अधिकारी ने निहत्थी जनता पर गोली चला कर जो बर्बर काम किया है, उसकी जाँच करवानी होगी और जब तक वह जाँच पूरी नहीं होती, तब तक गोली चलाने से सम्बन्धित सब व्यक्तियों को मोअत्तिल करना होगा।

शरत : यह किसकी माँग है ?

सुभाष : उस जनता की जिसने आपको गद्दी सौंपी है, जिससे आज आप दूर भागते हैं, डरते हैं।

शरत : मैं डरता हूँ ?

सुभाष : हाँ, आप डरते हैं। यदि न डरते तो घर में छिप कर बैठ रहने की बजाय जनता के पास जाते। तब यह नौबत न आती, गोली न चलती, निर्दोष निहत्थे नागरिक न मरते !

शरत : लेकिन तुम भी तो जनता के नेता हो, तुमने कौन सा तीर मार लिया ?

सुभाष : मैंने क्या किया है, यह मेरे मुँह से सुन कर क्या करेंगे, पर इतना कहे देता हूँ कि जनता संयत न रहती तो कप्तान विजय-चन्द्र यहाँ बैठे न दिखायी देते। इनसे पूछिए तो कि क्या इन्हें बन्दूकें इसीलिए दी गयी हैं कि ज़रा-सा पत्थर आ लगे तो जनता को गोली से भून दें···

लक्ष्मी : गोली न चलती तो···

सुभाष : (एकदम) दादाजी, आप न बोलें। आप व्यापारी हैं। आपका सिद्धान्त आपका स्वार्थ है···

लक्ष्मी : (एकदम आवेश में) मैं तो स्वार्थी हूँ, पर तुम अपनी कहो। तुम्हारी नेतागीरी भी तो मुझ स्वार्थी के पैसे से ही चलती है।

सुभाष : ठीक है, उतना पैसा सार्थक होता है—पर आप यह क्यों भूल गये कि उस दिन जब कुछ व्यापारी पकड़े गये थे तो आपने विजय भइया को कितना कोसा था।

लक्ष्मी : और आज तुम कोस रहे हो। क्योंकि तुम मन्त्री नहीं हो, विरोधी दल के हो।

सुभाष : हाँ मैं विरोधी दल का हूँ, लेकिन दादाजी ! मैं आपसे बातें नहीं कर रहा।

लक्ष्मी : (क्रोध में) तो मैं ही कब तुमसे बातें कर रहा हूँ, वाह !

[तेज़ी से अन्दर जाते हैं।]

अन्नपूर्णा : दादा जी, दादा जी···

[पीछे-पीछे जाती है, विजय भी जाते हैं।]

सुभाष : मैं माननीय उप-मंत्री महोदय से पूछता हूँ कि...

शरत : (एकदम) और मैं तुमसे पूछता हूँ कि क्या जनता के राज में भी सड़कों पर प्रदर्शन होने चाहिएँ, भीड़ को कानून हाथ में लेना चाहिए।

सुभाष : जब तक सरकार और उसके अधिकारी ठीक आचरण नहीं करेंगे, तब तक जनता प्रदर्शन करती ही रहेगी। कानून हाथ में लेती रहेगी। भाई साहब, इस नौकरशाही ने, शासन की इस भूख ने आपको जनता से दूर कर दिया है।

शरत : सुभाष, तुम बार-बार एक ही बात की रट लगाये जा रहे हो।

सुभाष : मैं ठीक कर रहा हूँ। जनता सरकार के ढाँचे को उतना महत्व नहीं देती जितना अधिकारियों की ईमानदारी और हमदर्दी को। आप चलिये मेरे साथ ··

[सहसा शोर बढ़ता है।]

शरत : (एकदम) हाँ मैं चलूँगा, मुझे तो कभी का चले जाना था, पर···यह शोर कैसा है ?

सुभाष : अवश्य कोई बात है। देखूँ···

[जाने को मुड़ता है तभी लक्ष्मीचन्द्र की पत्नी तारा देवी विक्षिप्त सी वहाँ आती हैं।]

तारा : (पागल सी) विजय कहाँ है !

[चारों तरफ देखती है।]

सुभाष : भाभी जी क्या बात है ?

तारा : मैं पूछती हूँ विजय कहाँ है ? उसका मन चाहा हो गया, उसकी गोली अरविन्द के सीने से पार हो गयी···

शरत : (एकदम) भाभी !

सुभाष : भाभी, तुम क्या कह रही हो !

[सविता का प्रवेश]

सविता : भाभी ठीक कह रही हूँ। अरविन्द जनता की सरकार की गोली का शिकार हो गया।

[लक्ष्मीचन्द्र, विजय, अन्नपूर्णा का प्रवेश]

लक्ष्मी : कौन गोली का शिकार हो गया ?

सविता : अरविन्द।

लक्ष्मी : (काँप कर) क्या···क्या अरविन्द मर गया ?

तारा : हाँ गोली उसके सीने से पार हो गयी ! वह मर गया !

[सब हक्के-बक्के रह जाते हैं। पागल से देखते हैं। लक्ष्मीचन्द्र सोफे पर गिर पड़ते हैं। विजय दोनों हाथों से मुँह ढक लेते हैं। अन्नपूर्णा पागल सी तारा को सम्हालती है और बोलती है।]

अन्नपूर्णा : अरे मेरे अरविन्द को किसने मार डाला, नाश हो जाय इस पुलिस का। बिना गोली कोई बात ही नहीं करता। अरे विजय, यह तुमने क्या किया ?

विजय : (पागल सा) ओह यह क्या हुआ ? अरविन्द वहाँ क्यों गया था ?

[टेलीफोन की घंटी बजती है सविता उठती है।]

सविता : हलौ, जी हाँ हैं, (विजय से) कप्तान साहब आपका फ़ोन है !

विजय : (फोन लेकर) जी हाँ क्या···भीड़ बेकाबू हो गयी है, टोलीगंज में, आया, अभी·आया।

[चोंगा पटक कर तेजी से किसी की ओर देखे बिना भागता है।]

सुभाष : मैं भी जाता हूँ कहीं कुछ हो न जाय।

[जाता है।]

शरत : मैं भी चलता हूँ।

[मुड़ता है पर जब तारा बोलती है तो ठिठक जाता है]

अन्नपूर्णा : तारा भाभी जी अन्दर चलें।

[उठती है।]

तारा : (पूर्ववत) सब जाओ पर अरविन्द क्या आयेगा ? उसने किसी का क्या बिगाड़ा था। वह चिल्लाया—मैं दंगा नहीं करता, मैं बाज़ार जाता हूँ···

[विक्षुब्ध जाती है।]

लक्ष्मी : पर मदान्ध पुलिस वालों ने एक न सुनी। पुलिस को अपनी जान इतनी प्यारी है कि एक दस वर्ष के बच्चे से भी उन्हें डर लगा···

सविता : (जाते-जाते) किसी ने उसकी आवाज़ नहीं सुनी। किसी ने उसकी ओर नहीं देखा।

लक्ष्मी : सब अन्धे हैं। ताकत के अन्धे ! जो सामने आता है उसे कुचल देना चाहते हैं। चाहे वह धूल हो चाहे पत्थर···

शरत : (जाता हुआ व्यथा से) ओह, यह क्या हो रहा है। यह क्या हुआ?

लक्ष्मी : वही हुआ जो विजय चाहता था। जो तुम चाहते थे।

शरत : (एकदम) दादा जी...

लक्ष्मी : (पूर्ववत्) तुमने मेरा घर बरबाद कर दिया? मेरे बच्चे को मार डाला। तुम सब हत्यारे हो ..

शरत : दादा जी, ओह, मैं क्या कहूँ...

लक्ष्मी : (पूर्ववत्) जब पैसे की ज़रूरत होती है तो मेरे पास भागे आते हो। टेक्स माँगते हो, दान माँगते हो, व्यापार में पैसा लगाने को कहते हो और...मुझी पर गोली चलाते हो...

शरत : दादा जी, गोली उन्होंने जानबूझ कर नहीं चलायी। अरविन्द तो बच्चा था! उससे किसी का क्या वैर था?

लक्ष्मी : वैर क्यों नहीं था। वह जनता में था और तुम हो जनता के शत्रु! मैं अभी जाकर विजय से पूछता हूँ...

[जाने को उठते हैं, सविता आती है।]

सविता : अभी रुकिए दादा जी! भाभी जी को दौरा पड़ गया है... (टेलीफ़ोन की घन्टी बजती है, उठती है) हलो, जी हाँ, (शरत से) आपका फ़ोन है।

शरत : (फ़ोन लेकर) हलो, जी हाँ। क्या...मन्त्री-मण्डल की बैठक हो रही है, मुझे भी बुलाया है। मैं अभी आया।

[फ़ोन रख कर जाने को मुड़ते हैं। तभी सुभाष का तेज़ी से प्रवेश।]

सुभाष : भाई साहब! आपको अभी चलना है।

शरत : मैं चल ही रहा हूँ। मन्त्रि-मण्डल की बैठक हो रही है।

सुभाष : वहाँ नहीं, आपको मेरे साथ चलना है। आपको जनता के पास चलना है। जनता में बड़ी उत्तेजना है। विद्यार्थी पीछे रह गये, दूसरे समाजद्रोही तत्व आगे आ गये हैं और विजय ने गोली चलाने से इनकार कर दिया है।

शरत : (पागल सा) विजय ने गोली चलाने से इनकार कर दिया।

सुभाष : जी हाँ।

शरत : वह कहाँ है?

सुभाष : भीड़ के सामने।

शरत : वह भीड़ के सामने है। (एकदम दृढ़ होकर) चलो सुभाष मैं देखता हूँ, जनता क्या चाहती है।

[दोनों जाते हैं।]

सविता : मैं भी चलती हूँ।

लक्ष्मी : मैं भी चलता हूँ।

सविता : नहीं, नहीं, आप ठहरें। आप भाभी जी को सम्हालें।

[जाती है, तभी अन्नपूर्णा आती है।]

अन्नपूर्णा : क्या हुआ दादा जी, सब कहाँ गये?

लक्ष्मी : सब गये। सुभाष आया था। कहता था विजय ने गोली चलाने से इनकार कर दिया। अब···अब तो इनकार करना ही था। वे तो मेरे बच्चे को मारना चाहते थे···

अन्नपूर्णा : नहीं, नहीं, दादाजी यह बात नहीं थी।

लक्ष्मी : यह बात कैसे नहीं थी? मैं उन सबको जानता हूँ। वे मेरे पैसे से आगे बढ़े और मुझी को बरबाद कर दिया। मैं पूछता हूँ उन्होंने पहले ही गोली चलाने से इनकार क्यों न किया। क्योंकि···क्योंकि···

अन्नपूर्णा : नहीं, दादाजी, नहीं···

लक्ष्मी : (आवेश में) ये मेरे छोटे भाई···एक ने मुझे स्वार्थी, देशद्रोही कहा, दूसरे ने मेरे बेटे को मार डाला। मेरे मासूम बच्चे को मार डाला, मार डाला।

[रोकर गिर पड़ते हैं।]

अन्नपूर्णा : (सम्हालती हुई) दादाजी, दादा जी ! ओह, यह एक ही घर में क्या होने लगा। भाई-भाई में यह मनमुटाव। (एकदम) नहीं, नहीं, यह नहीं होगा दादाजी, आप ग़लत समझ रहे हैं···

लक्ष्मी : (आँखें खोलकर) मैं ग़लत समझ रहा हूँ···मैं ग़लत समझ रहा हूँ···अरविन्द, मेरे बच्चे, तू चला गया, मैं तुझसे दो बातें भी न कर सका, तू तो भीड़ में भी नहीं था ! अरविन्द···

[तारा का प्रवेश]

तारा : अरविन्द ! क्या अरविन्द आया है। कहाँ है ?

[अन्नपूर्णा तारा को पकड़ती है।]

अन्नपूर्णा : भाभी जी, भाभी जी आप क्यों उठ आयीं। हम अभी अस्पताल चलते हैं। आप अपने को सम्हालिए।

[अन्दर ले जाती है। लक्ष्मीचन्द्र भी जाते हैं। तभी अस्त-व्यस्त, परेशान सविता का प्रवेश।]

सविता : (बोलती जाती है) अद्भुत दृश्य था, अपार भीड़ थी, उनके आगे खड़े थे कप्तान भइया। दूर से देख सकी। किसी ने पास जाने ही नहीं दिया। एक रेला आया और मैं पीछे आ पड़ी।

[अन्नपूर्णा आती है।]

अन्नपूर्णा : तुम आ गयीं। वे लोग कहाँ हैं ? सुभाष कहाँ है ?

सविता : कुछ पता नहीं, मुझे किसी का कुछ पता नहीं। मैं आगे नहीं बढ़ सकी और वे दोनों आगे बढ़े चले गये। एक बार भीड़ के बीच में सब को देखा फिर उस ज्वार-भाटे में सब कुछ छिप गया। (टेलीफोन की घन्टी बजती है, उठाती है।) हलो, जी हाँ, जी वे तो गये। जी हाँ भीड़ में शरत भाई साहब का इन्तज़ार हो रहा है। वे अभी तक पहुँचे ही नहीं। मैं कहती हूँ ये लोग मन्त्रि-मण्डल की बैठकें क्यों कर रहे हैं। जो लोग विदेशियों की गोलियों से नहीं डरे, वे अपने ही बच्चों और भाइयों से क्यों डरते हैं ? जनता में क्यों नहीं आते···

अन्नपूर्णा : क्योंकि शासन भीड़ में आकर नहीं चलाया जाता। आख़िर जनतन्त्र भी तो कानून का राज है !

सविता : है, पर···(एकदम) नहीं, अब बहस करने का समय नहीं है। सोचने का और काम करने का समय है। बेचारा अरविन्द ! उसकी मौत क्यों हुई। जना-राज्य में एक निर्दोश, निरीह, बालक की हत्या क्यों हुई ? (टेलीफोन की घन्टी फिर बजती है, उठाकर) हलो, क्या, हाँ, हाँ, कप्तान साहब तो कभी के चले गये। क्या, उनका पता नहीं मिल रहा ! नहीं नहीं, वे···वे भीड़ के सामने थे ! मैंने देखा था। जी हाँ मैंने देखा था। उधर का क्या हाल है, ठीक नहीं, हूँ। उनके हुक्म के बिना कुछ नहीं कर सकते···हाँ, हाँ, आये तो कह दूँगी···क्या··· कोई आथा है। हाँ, हाँ, पूछिए···हलो···हलो···हलो··· (फोन रख कर) कनेक्शन काट दिया···अवश्य कोई बात है। (जाने को मुड़ती है) मैं जाती हूँ···

अन्नपूर्णा : सविता ! तुम न जाओ। ठहरो तो सविता···(सविता नहीं रुकती) गयी।

लक्ष्मी : (आकर) कौन गयी ? क्या बात है ?

अन्नपूर्णा : जरूर कोई बात है। सविता टेलीफोन कर रही थी पता नहीं किसी ने क्या कहा, भागी चली गयी।

लक्ष्मी : तो मैं भी जाता हूँ। अरविन्द को भी लाना है।

[गला रुँध जाता है, तेजी से जाते हैं।]

अन्नपूर्णा : दादाजी ! अभी रुकिए ! किसी को आ जाने दीजिये।

लक्ष्मी : घबराओ नहीं, मैं कच्चा नहीं हूँ।

[जाते हैं, दूसरे द्वार से विजय की पत्नी उमा, आयु ४२ वर्ष, पागलों की तरह आती है।]

उमा : जीजी ! सब कहाँ हैं ?

अन्नपूर्णा : मुझे पता नहीं। यहाँ से तो कभी के गये। क्या तुझे सविता नहीं मिली ?

उमा : मुझे कोई नहीं मिला, अरविन्द की खबर सुन कर भागी आ रही हूँ। जीजी···जीजी, मैं भाभी जी को कैसे मुँह दिखाऊँगी ! मैं मर क्यों न गयी।

अन्नपूर्णा : (शून्यवत) न जाने क्या होने वाला है। एक ही घर के लोग एक दूसरे को खा रहे हैं। (बाहर भीड़ का शोर) यह क्या ! लोग इधर आ रहे हैं।

उमा : (द्वार पर जाकर देखती है, चीख पड़ती है।) जीजी··· ई···ई···।

अन्नपूर्णा : क्या हुआ ! क्या हुआ उमा ?

[उठ कर तेज़ी से आगे बढ़ती है। तभी घायल शरत वहाँ आते हैं। मुख पर घाव हैं। एक हाथ बँधा है।]

अन्नपूर्णा : (काँप कर) आप ! यह क्या हुआ ?

शरत : वही जो होना चाहिए था। विजय भीड़ में कुचला गया, पर उसने गोली नहीं चलायी।

उमा : कुचले गये, कौन ?

शरत : विजय कुचला गया । चला गया ।

उमा : (चीख कर) भाई साहब, वे कहाँ हैं ?

[भागती है ।]

अन्नपूर्णा : (शरत से) यह तुम क्या कह रहे हो ?

शरत : भीड़ सन्तुलन खो बैठी थी, विवेक खो बैठी थी । वह चिल्लाती रही—"अरविन्द कहाँ है ? अरविन्द को लौटाओ !" और विजय भीड़ के सामने अड़ा रहा । चिल्लाता रहा—"मुझसे अरविन्द का बदला लो । मैंने अरविन्द को मारा है । तुम मुझे मार डालो !"

उमा : और भीड़ ने उन्हे मार डाला ।

शरत : पता नहीं किसने मार डाला…उनके गिरते ही भीड़ पर जैसे अंकुश लग गया, पर…पर…जब वहाँ शान्ति हुई तो विजय और सुभाष दोनो कुचले हुए पड़े थे ।

उमा : सुभाष भी !

अन्नपूर्णा : सुभाष भी कुचला गया । हाय…

शरत : हाँ सुभाष भी कुचला गया । लेकिन खबरदार जो उनके लिए रोये । रोने से उन्हें दुख होगा । उन्होंने प्राण दे दिये, पर शासन और जनता का सन्तुलन ठीक कर दिया । वे शहीद हो गये, पर दूसरों को बचा गये । नगर में अब बिलकुल शान्ति है । सब मौन, सगर्व इन बलिदानों की चर्चा कर रहे हैं । सब शोक-संतप्त हैं । (बाहर देख कर) लो वे आ गये । रोना मत… रोना…

(आगे बढ़ कर) हाँ, वहीं लिटा दो…

[तभी लक्ष्मीचन्द्र और सविता के साथ पुलिस के तथा दूसरे अधिकारियों का प्रवेश। धीरे-धीरे वे विजय, सुभाष और अरविन्द की लाशें बराबर के कमरे में लाकर रखते हैं। एक भयंकर सन्नाटा छाया रहता है। सविता का मुख पत्थर की तरह कठोर है। लक्ष्मीचन्द्र तूफ़ान की तरह काँप रहे हैं। शरत दृढ़ता से प्रबन्ध में लगे हैं। सहसा उमा तेजी से बढ़ती है, बराबर के कमरे में झाँक कर जोर की चीख मारती है।]

उमा : माँ···री···ई···क्या हुआ?

[तारा अन्दर से आती है।]

तारा : कैसा शोर है अन्नपूर्णा! अरविन्द आ गया। कहाँ है?

शरत : भाभी यह देखो, कमरे में तीनों लेटे हैं। कभी नहीं उठेंगे। ये अरविन्द और सुभाष हैं—यह जनता की क्षति हैं। और इधर यह विजय है—यह सरकार की क्षति है।

अन्नपूर्णा : (रोकर) यह तुम कैसी बावलों की-सी बातें करते हो। यह सब मेरे घर की क्षति है।

सविता : (उसी तरह पत्थरवत) नहीं जीजी। यह घर की नहीं, सारे देश की क्षति है, देश क्या हमसे और हम क्या देश से अलग हैं?

शरत : तुमने ठीक कहा सविता। यह हमारे देश की क्षति है। जनतंत्र में सरकार और जनता के बीच कोई विभाजक-रेखा नहीं होती···

[पर्दा गिरता है।]

लक्ष्मीनारायण लाल | मैं आइना हूँ

पात्र

शिवचंद	(शीबू)
लक्ष्मीचंद	पिताजी,
डाक्टर जैन,	प्रकाश,

पुलिस-अफ़सर, नौकर, कम्पाउण्डर तथा एक डाक्टर

[डाक्टर जैन के बैठने का कमरा। उनके बैठने की कुर्सी के सामने एक मेज़ है, जिसके आस-पास कुल पाँच कुर्सियाँ और रखी हैं। मेज़ पर और कमरे में रखे हुए डाक्टरी सामान और दीवारों पर टँगी हुई तस्वीरों और मेडिकल चार्टों से यह स्पष्ट है कि डाक्टर जैन का स्तर ऊँचा है।

कमरे से दायीं ओर का दरवाज़ा डिंस्पेंसरी और आपरेशन रूम का है। दरवाज़े पर पर्दा पड़ा है।

कमरे के पीछे दो दरवाजे हैं, जो घर में खुलते हैं। इन पर भी पर्दे पड़े हैं। दिसम्बर के दिन हैं, और रात के दस बजने वाले हैं।

जब पर्दा उठता है, डाक्टर का यह कमरा बिल्कुल सूना पड़ा है। सहसा दायीं ओर से डाक्टर निकलता है। उसी समय पीछे के दरवाजे से—अर्थात् भीतर से नौकर आ डाक्टर को एक कप कॉफ़ी दे जाता है। ज्योंही नौकर घर में जाता है; दायीं ओर से दीवार के सहारे शीबू आता है। सर, बाँह और सीने पर पट्टी बँधी है।]

डाक्टर : (जैसे ही शीबू पर दृष्टि पड़ती है) यह क्या है ! यहाँ क्यों चले आये ! चलो यहाँ से…जाओ भीतर…।

शीबू : (मेज के पास आकर) डाक्टर !...(देखता रह जाता है) ?

डाक्टर : क्या है ? ...बोलो...क्या है ?

[शीबू रो पड़ता है। डाक्टर उसे सम्हालकर पास के गद्देदार कोचनुमा सीट पर बिठा देता है।]

शीबू : डाक्टर !

डाक्टर : कॉफ़ी पियोगे ?

शीबू : (सिर हिलाता है)...मुझे जीना नहीं है !

डाक्टर : यह हमारे वश की बात नहीं ! (कप खाली करके) तुम्हारे वश में केवल यही था कि तुमने अपने ऊपर पिस्टल चला ली—लेकिन मौत तुम्हारे वश में नहीं। (रुककर) यह उसी के वश में है, जो हम सब को जिलाता है। (हँस पड़ता है) ईश्वर है वह !

शीबू : (चुप है)

डाक्टर : (मुसकराकर रह जाता है)

शीबू : (एकाएक खड़ा हो जाता है) तो तुमने मुझे जिला लिया ! अब तुम मुझे नहीं मरने दोगे ?

डाक्टर : (उसे देखता हुआ चुप है)

शीबू : (कटुता से) नहीं मरने दोगे ?

डाक्टर : जाओ सो जाओ ! अभी तुम्हें खूब आराम करना चाहिये।

शीबू : मैं जेल तो जाऊँगा न !

डाक्टर : वह क्यों ?

शीबू : आत्महत्या जो कर रहा था !

डाक्टर : (मुसकराकर सर हिलाता है)

शीबू : तो तुम लोगों ने पुलिस को भी धोखा दे दिया (रुककर) झूठ, धोखा और तुम सब, और यह बेमानी ज़िन्दगी।

डाक्टर : सो जाओ अब ! चलो, मैं तुम्हें अब सुला देता हूँ !

शीबू : जैसे सो जाना कोई खेल है, जब चाहा तब घुमा लिया। बड़े भाग्य से नींद आती है।

डाक्टर : ईश्वर के नाम पर सो जाओ।

शीबू : उसके नाम पर तो मैं मरना चाहता था।···मरना चाहता था।

[दो-चार कदम इधर-उधर डोलकर वह पीछे—दोनों दरवाज़ों के बीच में खड़ा हो जाता है—स्थिर मूक और निस्पंद।]

डाक्टर : उठके यहाँ बैठो ! चलो। (उठकर पास जाता है) यूँ नहीं खड़े रहते। (लाकर फिर उसी सीट पर बिठाता है) क्या है ? · क्या सोच रहे हो ?···अब नहीं बोलोगे ?···अच्छा है न बोलो··· बोलने से प्राण-शक्ति नष्ट होती है।···अच्छे लड़के हो। अच्छा, अब सो जाओ ! यहीं सो जाओ। (उसे सुलाने लगता है; पर शीबू जड़वत् बैठा रहता है।) लेटोगे नहीं ? यूँ ही चुप-चाप बैठे रहोगे (रुककर) कब तक इस तरह बैठे रहोगे ?··· अच्छा कुछ बोलो ही ! चलो, बातें करें ! बोलो शिवचन्द ! ···शीबू।

[शीबू पत्थर की मूर्ति जैसा डाक्टर को अपलक देख रहा है, धीरे-धीरे स्टेज की सारी रोशनी ग़ायब हो जाती है। क्षण-भर बाद जब धीरे-धीरे प्रकाश लौटता है, तब डाक्टर के पास शीबू के पिताजी—राय साहब चिन्ता में डूबे बैठे मिलते हैं। पास ही लक्ष्मीचन्द खड़ा है। दृश्य में शीबू नहीं है।]

डाक्टर : लेकिन यह मुझसे तो बातें कर रहा था !

पिताजी : (अतुल जिज्ञासा) क्या कहता था ?

डाक्टर : बस; कुछ ही शब्द ।

[सब चुप होकर शीबू को निहारते रह जाते हैं]

पिताजी : मेरे भाग्य का ही सारा दोष है डाक्टर साहब !

लक्ष्मीचन्द : इसमें भाग्य की क्या बात ! शीबू नहीं बोलता, न बोले ! देखें, कब तक वह चुप रह लेता है ।

पिताजी : तीन दिन तो हो गये ! क्यों नहीं बोला अब तक ?

लक्ष्मीचन्द : सरासर बदमाशी है उसकी । पूरे घर को इस तरह तबाह करना चाहता है ।

पिताजी : मत बोलो लक्ष्मीचन्द···ऐसा न बोलो ।

लक्ष्मीचन्द : तो मैं भी चुप हो जाऊँ शीबू की तरह ?

पिताजी : नहीं, मुझे भी चुप कर दो ।

डाक्टर : इस तरह लड़ने से कोई फायदा नहीं । अच्छा तो यह होता कि हम सब मिलकर किसी तरह यह पता लगाते कि वह चुप है क्यों ?

लक्ष्मीचन्द : यह तो वही जाने डाक्टर साहब ! कौन जान सकेगा उसे । (परेशान-सा) समझ में नहीं आता, आजकल ये लौंडे हैं क्या ! गूँगे के गुड़—पता नहीं क्या हैं ।

पिताजी : यूँ न बोलो लक्ष्मीचन्द । शीबू चुप है—कुछ नहीं बोलता, लेकिन वह चेतन तो है—हमें सुन रहा है वह, देखता भी है ।

डाक्टर : यही तो मुसीबत है !

लक्ष्मीचन्द : कुछ भी नहीं है । मेरा वश चले तो मैं मिनटों में शीबू को चिल्लवा दूँ—बोलने को कौन कहे ।

डाक्टर : लेकिन चिल्लाने और बोलने में फ़र्क है लक्ष्मीचन्द !

लक्ष्मीचन्द : अभी बोलने लगे—कस-कसकर चार बेंत मारे बस, तूती बोल उठे !

डाक्टर : (बिगड़ता जाता है) मैं कहता हूँ चुप रहो···चले जाओ यहाँ से। कोई जरूरत नहीं है—चले जाओ !

लक्ष्मीचन्द : मैं खुद जा रहा हूँ। मेरे पास इतनी फुर्सत ही कहाँ जो यही झूठ-मूठ का नाज़ उठाता फिरूँ ! (रुककर) मेरे ऊपर तो सारी ज़िम्मेदारियाँ और लाखों काम हैं। (जाते-जाते) नमस्ते, डाक्टर साहब।

डाक्टर : मुझे आपके इस लड़के का रुख पसन्द नहीं आया रायसाहब !

पिताजी : नहीं, नहीं यह बात नहीं डाक्टर साहब ! सच, बड़ी ज़िम्मेदारियाँ हैं लक्ष्मीचन्द पर। अपने पास लोहे और चमड़े की दो फर्म्स हैं; और सारा काम अकेला लक्ष्मीचन्द देखता है।

डाक्टर : तो इसके यह अर्थ नहीं कि वह सबको काटता फिरे ! यह सब कुछ जीवन के ही लिए है रायसाहब !

पिताजी : बेशक ! बेशक ! लक्ष्मीचन्द अपने शीबू को बहुत प्यार करता है—तभी वह इतना परेशान है।

[उसी समय दायीं ओर से शीबू का प्रवेश। वह चुपचाप दीवार से सट कर खड़ा हो जाता है, जैसे कोई मूर्ति खड़ी रख दी गयी हो।]

डाक्टर : आ जाओ शीबू···आओ मेरे पास बैठो···चलो !

पिताजी : क्या हो गया तुम्हें बेटा शिवचन्द ! मुझे देखो न ! सारा घर परेशान है बेटा ! कुछ बोलोगे नहीं तो कैसे कोई क्या करेगा ! बोलो न तो, कुछ लिखकर ही बता दो।

डाक्टर : और क्या ! अपनी वह परेशानी, दर्द, वह द्वन्द्व हममें बाँट दो। तुम अपने को अकेला क्यों सोचते हो ?

पिताजी : और क्या !···बोलो बेटा ! देखो, कई दिन हो गये। हम सबके साथ यह डाक्टर साहब कितने परेशान हैं ?

डाक्टर : (उठकर टहलने-सा लगता है) पता नहीं, आपका यह बेटा जिन्दगी से क्यों इस तरह ऊब गया है।

पिताजी : यह कुछ बताये न ! मैं उसे हर सूरत से पूरा करने को तैयार हूँ।

डाक्टर : बताओ शीबू ! तुम किसी बुरे मर्ज़ में तो नहीं फँस गये हो ? या किसी मुहब्बत में हार खाकर ऊब गये हो ? या कोई और असफलता है जो तुम्हें जीवन से नफ़रत करा रही है ?

पिताजी : मैं तो डाक्टर साहब यहाँ तक कहता हूँ, यह जो कुछ इच्छा करे, मैं भरसक उसे पूरा करने का वादा करता हूँ।

डाक्टर : आपने इस बेटे को बेकार बना रखा है। इसे दूकान पर बैठाते या दौड़-धूपकर किसी नौकरी में लगा देते।

पिताजी : (दुःख से) च···च···च···ओ हो···हो ! कित्ता समझाया कि यह किसी दूकान पर बैठे। एक नहीं, कई नौकरियाँ दिलायीं इसे ! पर 'नहीं' छोड़कर इसके जीवन में जैसे 'हाँ' है ही नहीं।

डाक्टर : (शीबू के पास जाकर अत्यन्त स्नेह से) किससे यह प्रतिक्रिया हुई तुम्हें ? क्या गाँठ है तुम्हारे मन में ? कहाँ चोट है तुम्हें ? मै डाक्टर हूँ—आदमी भी हूँ—मुझे बताओ। और तुम इस घुटन को चीर कर निकल आओ !···बढ़ो, मैं तुम्हें उत्साह देता हूँ; और जिम्मेदार होता हूँ।

[सामने से प्रकाश का प्रवेश।]

पिताजी : आओ प्रकाश ! देखो, शीबू अब तक उसी तरह चुप है। (रुककर) डाक्टर साहब, यह प्रकाश मेरे शीबू का एक मात्र दोस्त है। दोनों ने साथ-साथ लिट्रेचर में एम० ए० किया है।

डाक्टर : मुझे पता है। यह तो दिन में तीन-चार बार अपने दोस्त को देखने आते हैं।

परकाश : (शीबू के पास जाकर) शीबू ! आओ मेरे साथ चलो···चलो कहीं टहल आयें !

[शीबू मूर्तिवत्—निर्विकार रूप से स्थिर है।]

डाक्टर : (हँस पड़ता है) कुछ बातें करो न तुम लोग। इतने हसीन नौजवान होकर चुप, उदास—अरे, मस्त रहो ! क्या किया तुम लोगों ने इतना पढ़-लिखकर ? (रुककर) यह आर्ट लिटरेचर क्या है ? जीवन को रसमय देखना है—सत्य, सौन्दर्य, कल्पना—ये सब जिन्दगी को सुहागन बनाती हैं।

[मन्द हँसी बिखेर देता है।]

परकाश : शीबू, क्या बात है ?

डाक्टर : आइए राय साहब, हमलोग यहाँ से चलें। नौजवान दोस्तों के बीच हम बुड्ढे क्यों ?

[डाक्टर रायसाहब के संग भीतर चला जाता है।]

परकाश : बोलो शीबू ! बुरी बात है यह ! अजीब ड्रामा बना रखा है तूने।

[विराम]

— : पता नहीं क्या बात है। तूने मुझे भी तो कुछ नहीं बताया। और बताओगे भी क्या तुम ? कहने-बताने लायक तुम्हारी जिन्दगी में कोई बात भी तो हो।—साधू आदमी तुम। न कभी किसी से मुहब्बत की, न नफ़रत। न लड़े, न झगड़े। न कुछ कमाया न खोया। (रुककर) तुम्हें तो दुनियाँ भरमें सबसे ज़्यादा खुश रहना चाहिए।

[दोनों एक-दूसरे को देखते रह जाते हैं।]

— : शीबू तुम्हें याद है न। बचपन में जो साथ-साथ हम लोग अपने हेडमास्टर के सर से टोपी उड़ा दिया करते थे; और उसके गंजे

सर पर (हँसी आ जाती है) तुम्हें हँसी नहीं आयी ! यार ! एक बार तो हँसो ! कुछ बोलो । नहीं तो मैं अब तुझे गुद्गुदी लगाऊँगा ! (गुद्गुदाने लगता है) अरे ! तुम रोने लगे···यह आँसू तुम्हारे !···अब मैं नहीं हँसाऊँगा । माफ कर दो मुझे ।

[उसी क्षण भीतर से डाक्टर के साथ पिताजी आते हैं ।]

डाक्टर : (हँसता हुआ आता है) नहीं बुला सके !···आँखें तो गीली कर दीं तुमने ! शाबाश ! अच्छा हुआ । रोओ···खूब जी भर कर रो लो शीबू ! कभी-कभी आँसू ही मुक्ति दे जाते हैं ।

परकाश : इसने मुझे भी कुछ नहीं बताया ।···यूँ अपनी जिन्दगी में भी यह बहुत खामोश आदमी है । मतलब से ज्यादा कभी एक शब्द भी नहीं बोलता ।

डाक्टर : (चुप है)

पिताजी : (सर थामकर बैठ गये हैं)

परकाश : ऐसा नेक दिल आदमी मैंने अपनी जिन्दगी में नही देखा ।

डाक्टर : तभी···तभी ! (रुककर) अच्छा, अब आप लोग जाइए । जाइए । नमस्ते !

पिताजी : मैं आपके इस एहसान को ता-जिन्दगी नहीं भूलूँगा डाक्टर साहब !

[दोनों का प्रस्थान]

डाक्टर : (अन्दर जाता है, और प्लेट में कुछ फल लाता है) लो यह फल खाओ । आओ, भूखे होगे तुम । नहीं खाओगे ? रूठे हो ? तुम्हें कोई मनाता नहीं ! सब यूँ ही परेशान करते हैं तुम्हें । जो रूठता है, उसे मनाया जाता है—जैसे माँ मनाती है । तुम्हारी माँ नहीं है शीबू ।···तभी तुम्हे···तभी कोई नहीं मनाता । लो मैं मनाता हूँ ।

[प्यार से लाकर उसी सीट पर बिठा लेता है, और कटे हुए फल का एक टुकड़ा उसके ओंठ पर रख देता है।]

डाक्टर : शाबाश ! लो और खाओ। लो खाते रहो ··मैं काफी मँगाता हूँ (पीछे दीवार के पास जाकर घंटी देता है) हम दोनों साथ-साथ काफी पियेंगे। (नौकर दो कप काफी लाता है और मेज पर रखकर चला जाता है) लो पियो।···तो तुम माँ-विहीन हो। 'मदर, ह्वाट ए ब्युटीफुल क्रियेशन।' एक साँस में न पियो, धीरे-धीरे घूँट में पियो। जैसे आदमी मन के दर्द को पीता है। (काफी पीता हुआ) आदमी सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि वह दर्द में पलता है। वह सोचता है, यही दर्द है उसका।

[दोनों चुपचाप पीते रहते हैं]

डाक्टर : तुम रो रहे हो।···मत रोओ···आँसुओं को वाणी दे दो। वाणी दो—कर्म मैं दूँगा, फिर तुम कर्ममय हो जाओगे।

शीबू : (हाथ से प्याला छूटकर फर्श पर टूट जाता है) डाक्टर।

डाक्टर : (हाँ, हाँ ! बोलो। बोलो यहाँ और कोई नहीं है। केवल हम हैं !

शीबू : हम हैं, लेकिन मैं नहीं हूँ।

डाक्टर : जभी तुम हो।

शीबू : होना और बात है, जीना और बात।

डाक्टर : (प्यार से हँसता है) बेहद प्यारे बच्चे हो। सोचो, अगर तुम न होते, तो तुम मुझे कहाँ से मिलते !···यही जीना है।

शीबू : झूठ। बिल्कुल झूठ।

डाक्टर : (चुप है)

शीबू : मैं अपने इस जीवन से घृणा करता हूँ। इसके पीछे कोई बहुत

बड़ा कारण नहीं है। मैं कारण ढूँढ़कर खुद हार गया हूँ। (डाक्टर काफी पी चुकता है।) घर और बाहर मुझे सब कुछ देता है—पर वह मुझे प्यार और इज्ज़त नहीं देता। जो उसे अच्छा लगता है, वह मुझे खूब देता है, लेकिन जो मैं चाहता हूँ—वह मुझे कभी नहीं देता। बस उसकी प्रतिक्रिया देता है। प्यार और इज्ज़त जैसे यही न देकर वह मेरे होने का मूल्य चुका लेता है। वह मुझसे भी नहीं चाहता कि मैं उसे प्यार और इज्जत दूँ। पता नहीं, वह मुझसे क्या चाहता है। खुलकर कोई कुछ कहता भी तो नहीं! बस, ठंडी लड़ाई छेड़कर बैठा रहता है।

डाक्टर : 'यू मीन कोल्डवार!'

शीबू : जी! वह मुझे बाँधकर भी अपने से अलग किये रहता है, जैसे मेरा स्वतन्त्र व्यक्ति उन्हें अछूत है, अपमानित है। डाक्टर! मुझे हरदम महसूस होता है, जैसे मेरे चारों ओर कोई साजिश चल रही है।—मुझे छोड़ देने के लिए, मुझे तोड़ देने के लिए! (खाँसता है) मैं सबका हूँ, पर सबसे अस्वीकृत हूँ।

डाक्टर : दर्द से मत बोलो शीबू। ज़रा प्यार से बोलो न।

शीबू : वह तो कबका मर गया है।

डाक्टर : तुम सोचते बहुत हो। (मुसकराने लगता है।)

शीबू : वह पूरा माहौल, जिसमें मेरा घर है—लखपती बाप का घर—वह मुझसे चाहता है कि पहले मैं उन्हीं की तरह हो जाऊँ। अपने मूल-स्वत्व को मिटा दूँ। (एकाएक कटु स्वर में) डाक्टर! तुम चुप क्यों हो गये? कहते क्यों नहीं कि मेरा यह कोरा अहंकार है—'परवरटेड इगो।'

डाक्टर : 'जज नॉट···।'

शीबू : ईसामसीह तक मत उड़ो डाक्टर । मुझे समझने के लिए ज़मीन पर उतरो ।

डाक्टर : (चुप हो जाता है—अपलक उसे देखता रहता है ।)

शीबू : मेरा भाई लक्ष्मीचन्द मुझे काम नहीं करने देता । चाहता है—मैं बैठा रहूँ—बेकार रहूँ । पूरा घर मुझे लाचार देखना चाहता है, जिससे वह खुलकर मुझ पर दया करे । सब-के-सब मुझ पर दया करते हैं; और इन दया-दृष्टियों में एक अजीब उपेक्षा है—कहीं भी करुणा या सहानुभूति नहीं ।···डाक्टर ! तभी मैं अपना पतन चाहने लगा हूँ ।

डाक्टर : (चुप है)

शीबू : पिता और भाई मुझे जिम्मेदार देखना चाहते हैं, पर मुझे जिम्मेदारी नहीं देते । वे मुझसे विश्वास चाहते हैं—पर मुझ पर विश्वास नहीं करते ! (उठ खड़ा होता है) वे मुझसे भाई चाहते हैं, बेटा चाहते हैं, किसी दुल्हन का पति चाहते हैं, अन्धी-धुआँधार कमाई वाला आदमी चाहते हैं—न जाने क्या-क्या कितना चाहते हैं—पर डाक्टर । वे मुझे नहीं चाहते । तभी मैं अपने को इतना चाहने लगा हूँ कि मैं इन सब से अपने को दूर हटा ले जाऊँ । इतनी दूर कि इनकी छाया तक मुझ पर न पड़े ।

डाक्टर : (उठ कर स्नेह से) अब चलो भोजन करने चलें । भूख लगी होगी तुम्हें । अब मैं कुछ नहीं सुनूँगा··चलो मेरे संग । तुम्हें भूख लगी है ।

शीबू : भूख उन्हें लगती है जो जीते हैं ।

[सहसा परकाश का प्रवेश]

: आओ परकाश ।

परकाश : (प्रसन्नता से पागल हो शीबू को गले से लगा लेता है) लवली डाक्टर ! बधाई देता हूँ ।

डाक्टर : (हँसकर फोन उठाता है) जी हाँ, मैं डाक्टर जैन हूँ । रायसाहब, जी हाँ ।...बिलकुल...आप झट आ जाइए ।...लक्ष्मीचन्द, ओह आप...खैर, आ भी सकते हैं । क्यों नहीं ? आ जाइए ।

[फोन रख देता है]

डाक्टर : शीबू ! आज तक तुम मेरे अतिथि थे—मेहमान । आज रात भर तुम मेरे साथ और रहोगे । और सुबह अपने घर जाओगे ।

शीबू : (बीच ही में घबड़ा कर) इसी लिए मुझे जिलाया है । नहीं कभी नहीं ।

डाक्टर : ओह हो ! पहले मेरी पूरी बात तो सुनो । तुम यहाँ एक दिन रात को बेहोश होकर आये थे—रात में आये थे--अब भोर में जाओगे । घायल—बेहोश आये थे, अब स्वस्थ और चेतन होकर लौटोगे । तब अपने माथे पर खून के धब्बे, आत्महत्या के अभिशाप लेकर आये थे, अब जीवन-पर्व का मंगल-तिलक लगा कर जाओगे ।

शीबू : नहीं...नहीं डाक्टर ! ऐसा धोखा न करो मेरे साथ ।

डाक्टर : मेरे प्रति तुम ऐसा कहोगे ? खबरदार ! (देखते रह जाते हैं) तुम मेरे बेटे की तरह हो—क्योंकि तुम्हें नया जन्म मिला है—पवित्र और बिलकुल नया । और अब इसका मालिक मैं हूँ, तुम नहीं । तुम्हारा जीवन अब मेरा है ।

शीबू : (चुप है)

डाक्टर : तुम मेरी बात नहीं काट सकते ! (रुककर) सुनो, तुम नये उत्साह और विश्वास के साथ अपने घर जाओगे । अपने को

कर्मरत कर दोगे। तुम्हें जो-जो नहीं मिला है, एक-एक करके मिलेगा, मैं जिम्मेदार होता हूँ। और तुम्हें भी अपने पुरुषार्थ का हिसाब देना होगा। तुम्हें वह सब मिलेगा, जिससे वास्तव में जिया जाता है। मैं साक्षी रहूँगा।

[पृष्ठ भूमि में कार रुकने की आवाज होती है।]

डाक्टर : आ गये तुम्हारे पिता और भाई! मैंने बुलाया है उन्हें। तुम्हारे सामने ही उनके संकल्प होंगे, और साक्षी मैं रहूँगा। झूठ-सच का ज़िम्मेदार मैं होता हूँ!

[पिताजी और लक्ष्मी चन्द्र का प्रसन्नता से प्रवेश। सब डाक्टर के पास खड़े हो जाते हैं। सब प्रसन्न हैं, हँस-मुख हैं। डाक्टर अपनी बात कहने चलता है; और उधर स्टेज की रोशनी एकाएक बहुत तेज हो जाती है, और उसी पर पर्दा गिरता है।

कुछ ही क्षण बाद, पर्दा पिताजी—रायसाहब की बैठक में उठता है। भीतर से झुँझलाया हुआ लक्ष्मीचन्द प्रवेश करता है।]

लक्ष्मीचन्द : तुम्हें क्या पता, जो कमाता है, उसे अखरता है! तुम्हें क्या मालूम कि रुपये में कितने आने होते हैं। (रुककर) मुफ्त में देखते-देखते सात सौ रुपये खर्च हो गये!

[शीबू प्रवेश करता है, पर दरवाज़े पर ही रुक जाता है।]

शीबू : (आते ही) किसने कहा था रुपये खर्च करने के लिए?

लक्ष्मीचन्द : हमें अपने कुल-परिवार की शर्म-हया है।

शीबू : रुपये तुम्हारे ही नहीं हैं—सारे रुपये घर के हैं; और घर में मेरा हिस्सा है।

लक्ष्मीचन्द : कभी एक कौड़ी कमायी भी है!

शीबू : तुमसे भीख नहीं माँगता !

लक्ष्मीचन्द : माँगोगे, अगर यही दशा रही।

शीबू : (क्रोध से चीख उठता है) चुप रहो! भाग जाओ मेरे सामने से !

[स्वयं भीतर चला जाता है]

लक्ष्मीचन्द : (व्यंग्य से) ओह ओ ! यह दिमाग ! भाग क्यों गये ? बुजदिल ! पिस्तल चलाकर डराते हैं ! मरने के लिए हिम्मत चाहिए। झूठ-मूठ का ड्रामा करते हैं।

[उसी बीच भीतर से पिता जी आते हैं।]

पिताजी : क्या हो गया ! क्या है लक्ष्मीचन्द !

लक्ष्मीचन्द : जब से शीबू डाक्टर जैन के यहाँ से लौटा है, उसका दिमाग कुछ और हो गया है। पहले से भी खराब !

पिताजी : कहाँ गया ?

लक्ष्मीचन्द : क्या पता ?

पिताजी : हमें चाहिए कि उसे समझा-बुझाकर रखें। डाक्टर जैन ने कहा था, शीबू 'सेंसिटिव' है, उसे अच्छे भाव मिलने चाहिए।

लक्ष्मीचन्द : अच्छे भाव पाने के लिए करनी अच्छी होनी चाहिए। (रुक कर) डाक्टर जैन के अनुसार आपने उसे लोहे वाली फर्म पर काम देखने के लिए बैठा रखा था—लेकिन क्या हुआ, एक ही महीने में साढ़े सात सौ का नुकसान। मैं अभी हिसाब देखकर आ रहा हूँ। सारा काम चौपट हुआ, वह ऊपर से।

पिताजी : पता नहीं, कब सम्हलेगा। शिवचन्द को तो चाहिए था कि तुमसे भी चार क़दम आगे रहता।

लक्ष्मीचन्द : आप जानिए, आपका काम जाने। (जाने लगता है)

पिताजी : सुनो लक्ष्मीचन्द ! सबर से काम लो ज़रा ।

लक्ष्मीचन्द : (जाते-जाते) बस, शीबू को आप सर पर लिये घूमिए । मेरे पास फ़ुर्सत नहीं ।

[भीतर चला जाता है ।]

पिताजी : (दुःख से) परेशान है तबीयत शीबू से । दुनिया में बहुत लड़के हैं, बहुत देखा भी—पर दुनिया के सारे लड़के-नौजवान इससे नीचे-नीचे ।

शीबू : (सहसा प्रकट होकर) चलो, मैं आपकी नज़र में कहीं तो बड़ा हूँ ।

पिताजी : बड़ा बनने के लिए बड़े ख्यालात पैदा करो बेटे ! देखो न, बड़ा है तेरा लक्ष्मीचन्द ।

शीबू : क्योंकि उनके पैरों के नीचे रुपयों की ढेरियाँ हैं ।

पिताजी : क्या तुम रुपयों की ढेरियों पर नहीं खड़े हो सकते ? तुममें क्या कमी है ।

शीबू : यही जानता तो क्या था ।

पिताजी : सीखो ! मुझसे सीखो रुपया कैसे पैदा किया जाता है । मैं तुम्हारा बाप हूँ ।

शीबू : यह भी बताने की ज़रूरत पड़ गयी ।

पिताजी : कैसे होते जा रहे हो तुम ?

शीबू : जैसा आप लोग बनाते चल रहे हैं ।

पिताजी : देखा नहीं, तुम कितने बच्चे हो । एक ही महीना फर्म पर बैठे और सात सौ से ऊपर का नुकसान हो गया ।

शीबू : झूठा है लक्ष्मीचन्द ।

पिताजी : चुप रहो ! यही है तुम्हारी तहज़ीब ।

शीबू : नहीं चाहिए मुझे ऐसी तहज़ीब । (जाने लगता है)

पिताजी : कहाँ चले ! मेरी एक बात सुनो ।

शीबू : क्या सुनूँ ? तुम लोग जो कहते हो, शायद उसके अर्थ नहीं जानते । यह भी नहीं जानते कि उनमें कितनी चोट है ।

पिताजी : अजीब हो तुम ।

शीबू : अजीब नहीं, घायल हूँ मैं । जो पिस्टल मैंने एक दिन अपने ऊपर चलायी थी, उसके घाव फिर ताज़े हो रहे हैं ।

पिताजी : तुम्हें कोई बीमारी है । मैं किसी ख़ास डाक्टर को दिखाकर इलाज कराऊँगा ।

शीबू : हूँ · क्यों नहीं । उस बार मुझपर साढ़े सात सौ रुपये खर्च हुए थे—वे अब भी मेरे सीने पर पत्थर की तरह रखे हैं ।

पिताजी : क्या बकते हो ?

शीबू : अपने लायक बेटे लक्ष्मीचन्द से पूछिए । उसने बीसियों बार मुझसे कहा है । वे रुपये मेरे नाम पर एक 'बिल' हैं । मैं चुका दूँगा उसे ।

[कुछ कागज़ात लिये भीतर से लक्ष्मीचन्द आता है ।]

लक्ष्मीचन्द : [कागज़ उलटता हुआ) इनसे पूछिए यह भोजन क्यों नहीं करते । घर के लोग शाम तक इनका भोजन लिये बैठे रहें, और यह···।

पिताजी : क्यों शीबू ,···क्यों इस तरह परेशान कर रहे हो ?

शीबू : (चुप है)

पिताजी : बोलते क्यों नहीं ? क्या बात है ?

लक्ष्मीचन्द : मुझे मालूम है क्या बात है ! मस्ती है मस्ती। बैठे-बैठे खाना कपड़ा और ऐश करने को मिले तो क्या न हो जाय।

[शीबू दरवाजे से मुड़ता है—भीतर जाता है—और तेजी से बाहर निकलकर ग़ायब हो जाता है। पिताजी बाहर बढ़कर शीबू को पुकारते रह जाते हैं। लक्ष्मीचन्द भीतर चला जाता है। एकाएक स्टेज पर अन्धकार छा जाता है। और उसी अन्धकार में भागते हुए शीबू को परकाश पकड़ लेता है।]

परकाश : कहाँ भाग रहे हो? तुम परकाश से भाग कर कहीं नहीं जा सकते।

शीबू : (उससे छुड़ाता हुआ) लेकिन तुम मेरी गति नहीं पकड़ सकते।

परकाश : अब तुम आगे नहीं बढ़ सकते। अगर बढ़ भी जाओगे, तो मैं तुम्हारा सग नहीं छोड़ सकता।—मैं नहीं छोड़ने को।

शीबू : मुझे छोड़ दो परकाश ! नहीं तो यह सिद्ध हो जायगा कि हमारी इतनी लम्बी दोस्ती झूठी थी, विश्वासघात था। मुझे छोड़ दो।

[छुड़ाकर शीबू भाग जाता है। परकाश वहीं हतप्रभ खड़ा रह जाता है। और कुछ क्षणों बाद फिर भी आगे चल पड़ता है, लेकिन अब थके पाँव से; जैसे शीबू ने उसे बुरी तरह घायल कर दिया हो।

स्टेज की रोशनी जब लौटती है, फिर हमें डाक्टर जैन का वही कमरा दीख पड़ता है—दीवार की घड़ी में शाम के चार बज रहे हैं। और डाक्टर जैन कान पर फोन लगाये बड़ी तेजी से कुछ लिखते मिलते हैं। कमरे के बाहर एकाएक शीबू की आवाज उठती है—"झूठा डाक्टर ! झूठा···डाक्टर जैन झूठा है।" और एकाएक दायें हाथ में पिस्टल ताने शीबू आवेश में प्रविष्ट होता है।]

डाक्टर : (प्यार से) क्या है शीबू !···यह हाथ में क्या ले आये ?···आओ मेरे पास आ आओ।

[शीबू अचानक पिस्टल चला देता है। डाक्टर फर्श पर गिरता है। और वह दृश्य देखकर शीबू चिल्ला उठता है।]

शीबू : (डाक्टर से लिपट जाता है) डाक्टर ! डाक्टर ! यह क्या हो गया तुझे ! (पुकारता है) कम्पाउण्डर ! दौड़ो कम्पाउण्डर······कम्पाउण्डर !

[कम्पाउण्डर और नौकर दौड़े आते हैं, शीबू फोन उठा लेता है।]

— : सिविल हास्पिटल···सर्जन···दौड़ो···डाक्टर जैन पर पिस्टल चल गयी। बचा लो···बचाओ उसे ! (रुककर) पुलिस ! पुलिस ! जल्दी आओ······डाक्टर जैन का खून। हत्यारा पकड़ा गया।

[उसी क्षण भागकर आते हुए परकाश का प्रवेश होता है।]

परकाश : (त्रस्त-सा) यह क्या कर डाला शीबू·तूने ? यह क्या कर डाला !

[बेहोश डाक्टर दायीं ओर के दरवाजे से भीतर ले जाया जाता है।]

— : (शीबू को पकड़कर) तूने क्या किया ! अपने डाक्टर पर पिस्टल। मर जायगा तेरा डाक्टर। (पिस्टल छुरा लेता है।)

शीबू : (पागल-सा) मर जायगा। मर जायगा डाक्टर जैन ! नहीं···

नहीं । मैं नहीं मरने दूँगा।···प्रकाश ! किसने मारा मेरे डाक्टर को ? बता वह हत्यारा कहाँ है ?

[बाहर से दो डाक्टर दौड़कर आते हैं और दायीं ओर मुड़ जाते हैं ।]

शीबू : बचाओ ! बचाओ मेरे डाक्टर को। रोक दो। खून।— मैंने खून किया है डाक्टर जैन का। गिरफ्तार कर लो मुझे। बाँध लो मुझे। डाक्टर ! अब मैं नहीं मरूँगा···सच अब नहीं मरूँगा···कभी नहीं···।

[उसी दरवाजे से लगकर रोने लगता है।]

परकाश : शीबू !···शीबू ! तू भाग जा यहाँ से !

शीबू : बेइमान कहीं का । मुझे भगाता है !···मैं नहीं भागूँगा······ (रोता है) परकाश ! ओ परकाश ! ! तू भीतर जा, मेरे डाक्टर के कान में कह आ—अब शीबू नहीं मरेगा—कभी नहीं··· जा कह आ, तब मेरा डाक्टर जी जायेगा। वह जरूर···

[बेहोश होकर वहीं गिर पड़ता है, पृष्टभूमि में पुलिस की 'जीप' रुकती है। और एक पुलिस अफसर का प्रवेश। पीछे-पीछे दो कान्स्टेबिल भी हैं। इसी पर तेजी से पर्दा गिरता है, और कुछ ही क्षण बाद फिर उठ जाता है। दीवार की घड़ी में सात बज गये हैं। बेहोश शीबू पुलिस से घिरा हुआ गद्देदार सीट पर लिटा दिया गया है। पर्दा उठने के कुछ ही क्षण बाद डाक्टर और कम्पाउण्डर के सहारे चल कर डा० जैन आते हैं और एक आराम-कुर्सी पर बैठा दिये जाते हैं]

डाक्टर : शीबू कहाँ है ?

कई लोग : यह बेहोश पड़ा है।

डाक्टर : (पुलिस को देखकर) आप लोग कैसे खड़े हैं ?

पु०अफसर : इसे गिरफ्तार करने।

डाक्टर : बेहोश...और गिरफ्तार। (दर्द हो आता है। कराहकर दवा लेता है। डाक्टर और कम्पाउण्डर से) इसे झट होश में लाओ! (डाक्टर और कम्पाउण्डर शीबू को इन्जेक्शन, दवा आदि देने में लग जाते हैं) कहिए कोतवाल साहब, कैसे तकलीफ की आपने ?

कोतवाल : मुल्ज़िम को गिरफ्तार करने।

डाक्टर : मुल्ज़िम ! कैसा मुल्ज़िम ? किस कसूर का मुल्ज़िम ?

कोतवाल : आप पर पिस्टल चलाने वाला...।

डाक्टर : लेकिन इसने तो नहीं चलायी। किसने आपको यह झूठी खबर दी ?

कोतवाल : यह तो बिल्कुल सही है।

डाक्टर : झूठ !...यह तो मेरा दोस्त है। (रुककर) बात यह हुई कि चार बजे हम दोनों बैठे बातें कर रहे थे। कार से दो आदमी आये। एक क़रीब मेरी उमर का, एक नौजवान। दोनों के हाथ में पिस्टल थीं और उन दोनों ने हम पर हमला कर उसी क्षण गोलियाँ चला दीं। मुझे गोली जरूर लग गयी। बेहोश भी शायद हो गया मैं।

परकाश : (बीच ही में) और आप ही का खून देखकर शीबू भी बेहोश हो गया।

डाक्टर : बिल्कुल यही बात।

कोतवाल : तो उन दोनों को पहचाना है आपने ?

डाक्टर : जी, मैंने उन्हें पहचान लिया है—वही मुल्ज़िम हैं !

कोतवाल : तो उनके नाम और पते दीजिए ।

डाक्टर : पता तो नहीं जानता; महज़ उन्हें पहचानता हूँ । खूब पहचानता हूँ ।

कोतवाल : तब कैसे क्या होगा ? कैसे उनकी गिरफ़्तारी होगी ?

डाक्टर : भविष्य पर छोड़ दीजिए । वे ज़रूर एक दिन खुद गिरफ़्तार होंगे ।...आज माफ़ कीजिए...आज यही उनकी सज़ा है ।

[कोतवाल पुलिस के संग लौटने लगता है ।]

नमस्ते । आप मुझे भी माफ़ करेंगे । बड़ी ज़हमत उठानी पड़ी आपको !

[पुलिस अफ़सर का प्रस्थान]

— : होश नहीं हुआ ?...अब तक नहीं ?...लाओ मेरे पास खींच दो ! इसकी हथेलियाँ मुझे दो ।...तुम सब जाओ यहाँ से । जाओ, ड्राइंग-रूम में बैठो !

[सब का प्रस्थान]

— : (प्यार से हँसता है) शीबू । ओ बेटे शीबू ! (हथेलियाँ मलता रहता है) होश में आओ । जल्दी आँख खोलो । मैं तुमसे बातें करूँगा । अभी साथ-साथ 'कॉफी' पियेंगे । तुम डर गये । पागल कहीं का, समझ बैठे कि डाक्टर मर गया । जब मैं खून में डूबा था; तब भी मैं तुम्हारी आवाज सुन रहा था—'मैं नहीं मरूँगा अब ।' फिर बोलो, शीबू ! मैं फिर तुम्हारी आवाज सुनना चाहता हूँ । (रुककर) मैं आइना हूँ शीबू । तुम मेरी तसवीर हो । इस आइने में उनकी भी तसवीरें आती हैं, जो अपराधी हैं, जो घृणा देते हैं । तुम जागो शीबू, जिससे वे

अपराधी तसवीरें खो जायँ! (रुककर) मैं अपने आइने में तुम्हें देख रहा हूँ। तब भी देखा था, जब तुम चार दिनों तक चुप थे। और अब भी देख रहा हूँ जब तुम बेहोश हो।··· शीबू···।

[शीबू को होश हो आता है—और वह पुकार उठता है, 'डाक्टर' !]

डाक्टर : (हँसता है) जग गये तुम।···रोता है !···अब भी रोता है। यह आँसू ! रुको 'कॉफी' मँगाता हूँ। साथ-साथ पियेंगे।

[उठकर आवाज देता है, शीबू भी उठने लगता है, उसी पर तेजी से पर्दा गिरता है।]

★

ये एकांकी तथा एकांकीकार

स्ट्राइक : भुवनेश्वरप्रसाद

भुवनेश्वर प्रसाद हिन्दी साहित्य की उन अमर विभूतियों में से हैं जिन्होंने बहुत थोड़ी रचनाओं से साहित्य के इतिहास में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया है। वे सच्चे अर्थों में एक क्रान्तिकारी लेखक थे। उनकी रचनाएँ तीखी व्यंग्यात्मकता एवं वाग्वैदग्ध्य की दृष्टि से अनुपम हैं। समाज के खोखलेपन को उन्होंने जिस निर्ममता से निरावृत किया है वह अंग्रेजी के महान नाटककार बर्नार्ड शॉ का स्मरण कराता है। उनकी पैनी भाषा एवं चुटीले संवाद अब भी अद्वितीय बने हुये हैं। हिन्दी में उच्च कोटि के सामाजिक एकांकी लिखने की परम्परा स्थापित करने का श्रेय भुवनेश्वर प्रसाद को ही है। १९३५ में प्रकाशित उनका संग्रह 'कारवाँ' हिन्दी का पहला एकांकी-संग्रह माना जाता है। यह खेद की बात है कि हिन्दी का ऐसा प्रतिभाशाली सपूत बहुत थोड़े दिन साहित्य की सेवा करने के बाद ही जीवन की उलझनों में फंस गया और गुमनामी के धुंधलकों में फंस कर जाने कहाँ खो गया !

'स्ट्राइक' हमारे मध्यवर्गीय अभिजात समाज के खोखलेपन का एक सजीव चित्र है, जिसमें एकांकीकार ने एक छोटी सी घटना ली है और उसके माध्यम से पूरी स्थिति को निरावृत करता चला गया है, जिससे पूरी विडम्बना मूर्त रूप में

उपस्थित हो गयी है। यह चूंकि 'कारवाँ' के एकांकियों से बाद की रचना है इसलिए इसमें भुवनेश्वर की कला प्रौढ़ता की कई मंज़िलें पार कर गयी है।

दीपदान : रामकुमार वर्मा

डा० रामकुमार वर्मा हिन्दी के आदि एकांकीकारों में से हैं। भुवनेश्वर प्रसाद के 'कारवाँ' के प्रकाशन से वर्षों पहले वे कई उत्कृष्ट मौलिक एकांकी लिख चुके थे। हिन्दी एकांकी के विकास में उन्होंने महत्वपूर्ण योग दिया है। सच्चे अर्थों में अभिनेय एकांकियों का सूत्रपात करने का श्रेय वर्मा जी को ही है। डॉ० वर्मा उच्चकोटि के आलोचक तथा सफल रहस्यवादी कवि भी हैं लेकिन उन्होंने एकांकी को ही अपनी कला-साधना का प्रमुख माध्यम बनाया, यहाँ तक कि वे पूरे नाटक लिखने के प्रलोभन में भी नहीं पड़े। वर्मा जी ने उच्चकोटि के हास्य-व्यंग्य-पूर्ण सामाजिक एकाकी भी लिखे हैं लेकिन उनकी कला का पूरा निखार ऐतिहासिक एकांकियो में ही दृष्टिगोचर होता है। अतीत युग को उसकी पूरी भव्यता एवं सजीवता के साथ मूर्त कर देने में वर्मा जी को अपूर्व सिद्धि प्राप्त है। डा० वर्मा प्रयाग विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्ष के रूप में भी हिन्दी की बहुमूल्य सेवा कर रहे हैं। दीपदान, रेशमी टाई, चारुमित्रा, सप्त किरण, इन्द्र धनुष, ऋतुराज, सप्त किरण आदि वर्मा जी के प्रसिद्ध एकांकी संग्रह हैं।

'दीपदान' में राजपूताने की एक ऐसी वीरांगना की गौरवपूर्ण कहानी प्रस्तुत की गयी है, जिसने पोषित राजकुमार की रक्षा के लिए अपने निज के पुत्र का बलिदान कर दिया और आंखों में एक बूंद आंसू तक न आने दिया। पन्ना धाय की यह बलिदान-कथा जब रंगमंच पर प्रस्तुत की जाती है तो दर्शक रोमांचित हो उठते हैं। आरम्भ में आह्लादपूर्ण वातावरण की सृष्टि द्वारा निर्दयी बनवीर

की कायरता तथा वीरांगना पन्ना के बलिदान की विडम्बना को और अधिक गहनना एवं तीव्रता प्रदान की गयी है।

तौलिये : उपेन्द्रनाथ अश्क

पंजाब के हिन्दी साहित्यकारों में अश्क जी अग्रगण्य हैं। प्रेमचन्द की तरह वे भी उर्दू से हिन्दी में आये हैं। उनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी है। इसीलिए आज उनकी गणना हिन्दी के प्रमुख कवियो, उपन्यासकारो, कहानी-लेखकों तथा नाटककारों में की जाती है। इसके अतिरिक्त उन्होने उच्चकोटि के संस्मरण तथा आलोचनात्मक एवं ललित निबन्ध भी लिखे हैं। यह सच है कि उन्होंने साहित्य की जिस भी विधा को अपनी लेखनी के पारस से छुआ है उसे कंचन बना दिया है लेकिन उनकी कला नाटक के क्षेत्र में ही मुक्त भाव से पंख खोल कर पूरी तरह उड़ान भरती है। अश्क जी ने अपने जीवन के आरम्भ से ही प्रबल संघर्ष किया है और अध्यापक, पत्रकार, लेखक, रेडियो सलाहकार, फिल्म-अभिनेता एवं संवाद-लेखक आदि के रूप में अत्यन्त वैविध्यपूर्ण तथा गहन अनुभव प्राप्त किया है। इस सब की अभिव्यक्ति के लिए नाटक से अच्छी कोई दूसरो विधा नहीं है। हिन्दी नाटक को पाठ्य ऐतिहासिक नाटकों की कृत्रिमतापूर्ण दलदल से निकाल कर अभिनेय सामाजिक नाटकों की यथार्थतायुक्त सुपुष्ट भूमि पर ला खड़ा करने में अश्क जी का महत्वपूर्ण योग है। उन्होंने पूरे नाटक तथा एकांकी दोनों एक जैसी कुशलता से लिखे हैं। सोद्देश्य कथानक, सहज चरित्र-निरूपण, यथार्थ एवं स्वाभाविक वातावरण, तीखे हास्य-व्यंग्य युक्त चुस्त संवाद एवं अभिनेयता अश्क जी की नाट्य-कृतियों को सामान्य विशेषताएं हैं। यही कारण है कि ये देश में ही नहीं विदेशों में भी प्रशंसित एवं अभिनीत हुए हैं। छठा बेटा, स्वर्ग की झलक, अलग-अलग रास्ते, कैद और उड़ान, भंवर, अंजो दीदी, पैंतरे अश्क जी के पूरे नाटक हैं और देवताओं की छाया में, पक्का गाना, चरवाहे, पर्दा उठाओ : पर्दा गिराओ, साहब को ज़ुकाम है एकांकी संग्रह हैं।

'तौलिये' में सनक की हद तक पहुँच जाने वाली नफासत की खिल्ली उड़ायी गयी है। आभिजात्य संस्कारो की कृत्रिम छाया मे पलो-बढ़ी मधु निम्न मध्य-वर्ग के सहज स्वाभाविक वातावरण की उपज वसन्त को पालतू बनाने का प्रयास करती है और असफल होती है। तब वह अपने दाम्पत्य जीवन को सुखी बनाने के लिए वसन्त के उपयुक्त अपने आप को ढालने की कोशिश करती है और इस बार सफल होती हुई दिखाई देती है। लेकिन उसकी यह सफलता अन्त में यथार्थ की एक हल्की सी ठोकर खाकर बालू की दीवार की तरह धराशायी हो जाती है। इस एकांकी मे तीखे व्यंग्य के साथ हल्के हास्य का पुट सर्वत्र व्याप्त है जिसके कारण इसकी मनोरंजकता में पर्याप्त वृद्धि हो गयी है।

एक दिन : लक्ष्मीनारायण मिश्र

पंडित लक्ष्मीनारायण जी मिश्र आधुनिक हिन्दी नाटक के जन्मदाता कहे जाते है। मिश्र जी को बचपन से साहित्य-सृजन के प्रति गहरा लगाव था और अपने विद्यार्थी जीवन मे ही 'अन्तर्जगत' नामक काव्यकृति तथा 'अशोक' नामक उत्कृष्ट नाटक लिख दिये थे। आगे चल कर मिश्र जी ने पाश्चात्य नाटक-साहित्य का गहन अध्ययन किया और कई उत्कृष्ट विदेशी नाटको का हिन्दी मे सफल अनुवाद भी किया। मिश्र जी इब्सन के नाटको से बहुत प्रभावित हुए और उनसे प्रेरणा ग्रहण करके हिन्दी में समस्या-मूलक सामाजिक नाटक-लेखन का सूत्रपात किया। शिल्प की दृष्टि से इब्सन से प्रभावित होने पर भी मिश्र जी भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के कट्टर समर्थक हैं और वे अपनी कृतियो मे उसकी भरपूर अभिव्यक्ति का प्रयास करते हैं। अनेक उच्चकोटि के समस्यामूलक सामाजिक नाटको के सृजन के साथ-साथ मिश्र जी ने कई सफल ऐतिहासिक तथा पौराणिक नाटक भी लिखे है। मिश्र जी ने अधिकतर पूरे नाटक ही लिखे हैं लेकिन जब वे कुछ दिनो के लिए आकाशवाणी से सम्बद्ध हुए तो उनकी रुचि एकांकी लिखने की ओर भी हुई और उन्होने

कुछ अत्यन्त श्रेष्ठ एकांकियों की रचना की। मिश्र जी उच्चकोटि के कवि भी हैं लेकिन नाटक-लेखन में अधिक व्यस्त रहने के कारण उनका कवि-रूप विशेष मुखर नहीं हो सका। सिन्दूर की होली, राक्षस का मन्दिर, मुक्ति का रहस्य, राजयोग, आधीरात, गरुड़ध्वज, चक्रव्यूह, नारद की वीणा, वत्सराज, जगद्गुरु, वितस्ता की लहरें, मृत्युञ्जय, धरती का हृदय आदि मिश्र जी के सुप्रसिद्ध नाटक हैं तथा अशोकवन, भगवान मनु, प्रलय के पंख और कावेरी में कमल एकांकी संग्रह।

'एक दिन' में नारी की विवाह-समस्या के सम्बन्ध में प्राचीन एवं नवीन प्रथाओं तथा मान्यताओं का संघर्ष दिखाया गया है। एकांकीकार ने इसमें दिखाया है कि कोई वस्तु केवल इसलिए बुरी तथा त्याज्य नहीं हो जाती कि वह प्राचीन है और न कोई वस्तु प्रशंसनीय तथा ग्रहण करने योग्य कि वह नवीन है। भारत की भावी नारी को अपने मान-सम्मान तथा स्वत्व की रक्षा के लिए पतिवरण के सम्बन्ध में सीता-सावित्री का आदर्श उपस्थित करके मुखर होना पड़ेगा तभी उसका अपना तथा राष्ट्र का जीवन सुखी और सम्पन्न हो सकेगा।

रीढ़ की हड्डी : जगदीशचन्द्र माथुर

उच्च कोटि के अभिनेय सामाजिक एकांकी लिखने वालों में श्री जगदीशचन्द्र माथुर आई० सी० एस० का महत्वपूर्ण स्थान है। यद्यपि उन्होंने हिन्दी एकांकी के प्रथम उत्थान-काल में ही साहित्य-सृजन आरम्भ कर दिया था लेकिन सरकारी नौकरी में आ जाने के कारण वे इस ओर अधिक ध्यान नहीं दे सके। फिर भी उन्होंने लिखना जारी रखा और जब उनका पहला एकांकी-संग्रह भोर का तारा प्रकाशित हुआ तो उसने एकाएक हिन्दी-जगत् का ध्यान अपनी ओर बरबस आकर्षित कर लिया और उसे पाठकों तथा आलोचकों दोनों की भरपूर सराहना मिली। तब से निरन्तर श्री माथुर अपने व्यस्त जीवन में से कुछ समय निकालकर साहित्य-सृजन करते आ रहे हैं और अब तक हिन्दी को वे कई अनमोल कृतियाँ

भेंट कर चुके हैं। जगदीशचन्द्र जी को एकांकी के उपयुक्त वस्तु के चयन तथा भाषा-शैली पर जैसा अधिकार प्राप्त है वैसा ही अधिकार उन्हें रंगमंच-कौशल पर भी प्राप्त है। यही कारण है कि उनके एकांकी इतने अधिक प्रशंसित होते हैं तथा पूरे देश में बार-बार अभिनीत होते हैं। उनका पूरा नाटक कोणार्क तो लोकप्रियता एवं साहित्यिक श्रेष्ठता की दृष्टि से हिन्दी के सभी आधुनिक नाटकों में सर्वोपरि सिद्ध हुआ है। यह एक विचित्र बात है कि एकांकी के क्षेत्र में श्री माथुर जहाँ सामाजिक विषय-वस्तु के समर्थक हैं वहाँ उन्होंने अपने पूरे नाटकों के लिए ऐतिहासिक कथानक ही चुने हैं। हाँ यह अवश्य है कि उन ऐतिहासिक कथानकों में उन्होंने बड़ी खूबी से आधुनिक अर्थ भर दिये हैं। धुली-मँजी प्रवाहयुक्त भाषा, प्रभावपूर्ण शैली, चुस्त चुटीले संवाद तथा हास्य-व्यंग्य पूर्ण सहज चित्रण माथुर जी की नाट्य कृतियों के विशेष गुण हैं। कोणार्क, शारदीया, कुँवरसिंह की टेक उनके पूरे नाटक हैं और भोर का तारा तथा ओ मेरे सपने एकांकी संग्रह।

'रीढ़ की हड्डी' एक तीखा सामाजिक व्यंग्य है, जिसमें गरीब माँ-बाप की सुशिक्षित एवं रूप-गुणसम्पन्न लड़कियों की विवाह समस्या की विडम्बना प्रस्तुत की गयी है। इस एकांकी में श्री माथुर ने हमारी उस सामाजिक व्यवस्था पर एक करारी चोट की है जो कुँवारी कन्या को भेड़-बकरियों की तरह निरीह एवं मेज़-कुर्सी की तरह निर्जीव तथा भावना-शून्य समझती है और खरीदार उसे खरीदने के पहले मिट्टी की हँडियाँ की तरह खूब ठोंक-बजाकर देखता है—चाहे स्वयं कितना ही अयोग्य क्यों न हो।

सीमा-रेखा : विष्णु प्रभाकर

श्री विष्णु प्रभाकर हिन्दी के बहुमुखी प्रतिभा वाले साहित्यकारों में से हैं। इन्होंने अपना साहित्यिक जीवन एक कवि तथा निबन्ध-लेखक के रूप में आरम्भ

किया। फिर प्रमुख रूप से कहानियाँ लिखने लगे और एक सफल कथाकार एवं उपन्यास-लेखक के रूप में विख्यात हो गये। आगे चलकर उनकी रुचि नाटक-लेखन की ओर गयी और इस क्षेत्र में उन्हें अप्रत्याशित सफलता प्राप्त हुई। आज सोद्देश्य अभिनेय सामाजिक नाटक लिखने वालों में प्रभाकर जी का अपना विशिष्ट स्थान है। प्रभावपूर्ण भाषा-शैली एवं सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक चित्रण उनकी नाट्य-कृतियों की विशेषताएँ हैं। राजनीति से सम्बद्ध होने पर भी उनकी विचारधारा सभी प्रकार पूर्वग्रह से मुक्त है, यही कारण है कि उनके नाटक तथा एकांकी गहरी मानवीयता से परिपूर्ण हैं। नवप्रभात, समाधि तथा डाक्टर श्री विष्णु प्रभाकर के पूरे नाटक हैं और इंसान, माँ का बेटा, क्या वह दोषी था, अशोक, प्रकाश और परछाईं, रामू की होली, मोटे लाला, हमारा स्वाधीनता संग्राम तथा बारह एकांकी उनके एकांकी-संग्रह हैं।

'सीमा-रेखा' में स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद जनता तथा सरकार के पारस्परिक संघर्ष के अनौचित्य तथा उसके दुष्परिणाम का बड़ा प्रभावपूर्ण चित्रण किया गया है। प्रभाकर जी इस एकांकी द्वारा यह सिद्ध करने में पूर्ण रूप से सफल हुए हैं कि प्रजातन्त्र में जनता और सरकार के बीच कोई सीमा-रेखा नहीं खींची जा सकती इसलिए उनके पारस्परिक संघर्ष का न तो कोई औचित्य है और न किसी सुपरिणाम की सम्भावना। इतनी मुश्किल विषय-वस्तु को इतनी सफलता से निभा देना श्री विष्णु प्रभाकर की लेखनी की अपूर्व क्षमता का परिचायक है।

मैं आइना हूँ : लक्ष्मीनारायण लाल

डा० लक्ष्मी नारायण लाल हिन्दी के नये नाटककारों में अपना प्रमुख स्थान रखते हैं। अभिनेय सामाजिक नाटकों को शहरी कथानकों से गाँवों की ओर मोड़ने

का श्रेय आप ही को है। उन्होंने अपनी नाट्य-कृतियों में केवल ग्रामीण विषय वस्तु ही प्रस्तुत नहीं की बल्कि परम्परागत लोक-नाटकों के शिल्प का भी सफल प्रयोग किया है। वस्तु एवं शिल्प दोनों दृष्टियों से नये-नये प्रयोग करने में डा० लाल अग्रणी हैं क्योंकि वे सफल नाटककार होने के साथ-साथ कुशल अभिनेता तथा रंग-मंच निर्देशक भी हैं। हिन्दी नाटक के क्षेत्र में लक्ष्मीनारायण लाल जी के प्रवेश से ताज़गी तथा नवीनता की एक लहर सी व्याप्त हो गयी है। सफल पूरे नाटक और एकांकी लिखने के साथ-साथ उन्होंने बहुत-सी उत्कृष्ट कहानियाँ तथा कई उपन्यास भी लिखे हैं। मादा कैक्टस, सुन्दर रस, सूखा सरोवर, नाटक तोता-मैना आदि डा० लाल के पूरे नाटक हैं और ताजमहल के आँसू, पर्वत के पीछे तथा नाटक बहुरंगी एकाकी संग्रह हैं।

'मैं आइना हूँ' में अपने ही घर वालों द्वारा अकर्मण्य बना दिये गये एक युवक की कुंठा, छटपटाहट तथा निराशा का बड़ा ही सफल चित्रण किया गया है जिसे एक सहृदय व्यक्ति ने अपने अनुपम त्याग द्वारा आत्म-विश्वासी तथा आशावादी बना दिया। इस सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक एकांकी में सहज परिस्थितियों तथा घटनाओं की बड़ी सफल योजना की गयी है।